इकाई-1 : ज्ञान का स्वरूप, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान
(Nature of Knowledge, Perceptual and Verbal Knowledge)

संरचना

0.0 प्रस्तावना
1.0 उद्देश्य
1.1 भारतीय दर्शन में ज्ञान का स्वरूप
1.2 जैन दर्शन में ज्ञान का स्वरूप
1.3 ज्ञान का विषय
1.4 ज्ञान और ज्ञेय का संबंध
1.5 ज्ञान की उत्पत्ति
1.6 ज्ञान की सीमा
1.7 ज्ञान के भेद
2.1 मतिज्ञान
2.2 मतिज्ञान के भेद
2.3 श्रुतनिश्रित मतिज्ञान
  2.3.1 अवग्रह
  2.3.2 ईहा
  2.3.3 अवाय
  2.3.4 धारणा
2.4 मतिज्ञान के 28 भेद
2.5 अवग्रह आदि का उत्पत्ति क्रम
2.6 अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान
  2.6.1 औत्पत्तिकी बुद्धि
  2.6.2 वैनयिकी बुद्धि
  2.6.3 कार्मिकी बुद्धि
  2.6.4 परिणामिकी बुद्धि
2.7 मतिज्ञान का विषय
3.1 श्रुतज्ञान का लक्षण
3.2 श्रुतज्ञान के भेद
  3.2.1 द्रव्यश्रुत
  3.2.2 भावश्रुत
3.3 श्रुतज्ञान का माहात्म्य
3.4 श्रुतज्ञान के चौदह भेद
3.5 श्रुतज्ञान का विषय
4.1 मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान की सहभागिता
4.2 मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का अभेद
4.3 मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का भेद
4.4 सारांश
4.5 अभ्यास प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

0.0 प्रस्तावना (Introduction)

दर्शन का लक्ष्य है सत्य की खोज करना। सत्य ज्ञेय (जानने योग्य) है, उसको जानने का साधन ज्ञान है। ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो उसके मुख्यत: तीन कोण बनते हैं— जानना क्या? जानना क्यों? जानना कैसे? इन्हीं प्रश्नों के आधार पर दर्शनशास्त्र के तीन स्तम्भ खड़े हुए हैं— तत्त्वमीमांसा, मूल्यमीमांसा और ज्ञानमीमांसा।

इस इकाई में मुख्य रूप से ज्ञान के स्वरूप की चर्चा की जा रही है। जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। प्रत्येक आत्मा में अनन्त ज्ञान विद्यमान हैं, किन्तु ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत्त होने के कारण वह पूर्ण रूप से प्रकट नहीं हो पाता। ज्ञान के पांच प्रकार हैं— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान। पांच ज्ञानों में प्रथम दो ज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं, जिनका विस्तृत विवेचन इस इकाई में किया जा रहा है।

1.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप—

* जैन दर्शन में वर्णित ज्ञान की अवधारणा को जान सकेंगे।
* ज्ञान का विषय और उसकी सीमा को समझ सकेंगे।
* इन्द्रिय और मन से होने वाले मतिज्ञान तथा इसके भेद-प्रभेदों को समझ सकेंगे।
* श्रुतज्ञान के स्वरूप तथा उसके महत्त्व का अनुमान लगा सकेंगे।

ज्ञान का स्वरूप (Nature of Knowledge)

जैन दर्शन में ज्ञानमीमांसा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह निर्विवाद सत्य है कि ज्ञानमीमांसा का जितना विशद निरूपण जैन दर्शन में हुआ है उतना अन्य दर्शनों में नहीं हुआ है। जैन दर्शन में ज्ञान का स्वरूप अन्य दर्शनों से भिन्न है।

1.1 भारतीय दर्शन में ज्ञान का स्वरूप (Nature of Knowledge in Indian Philosophy)

भारतीय परम्परा में ज्ञानमीमांसा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभी तत्त्वचिंतकों ने तत्त्व की अवगति के लिए ज्ञान की अनिवार्य अपेक्षा स्वीकार की है अत: वैदिक, अवैदिक सभी धर्म-दर्शनों में ज्ञान-चिंतन उपलब्ध है।

* न्याय-दर्शन में ज्ञान को आत्मा का लिंग माना गया है। वह अनित्य है। मुक्त अवस्था में ज्ञान तिरोहित हो जाता है। अनित्य होने से मुक्त अवस्था में ज्ञान नहीं रहता।

* वैशेषिक दर्शन के अनुसार बुद्धि ज्ञान का पर्यायवाची है। वह आत्मा का विशेष गुण है। वह जीवात्मा की अपेक्षा अनित्य तथा परमात्मा की अपेक्षा नित्य है।

* सांख्य दर्शन में चैतन्य और ज्ञान को भिन्न माना गया है। चैतन्य पुरुष (आत्मा) का धर्म है और ज्ञान प्रकृति (जड़) का धर्म है।

* वेदान्त दर्शन चित् शक्ति को ब्रह्मनिष्ठ व ज्ञान को अन्त:करणनिष्ठ मानता है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन ईश्वरवादी है, वेदान्त दर्शन ब्रह्मवादी है इसलिए वे जीव के ज्ञान को नित्य नहीं मानते। सांख्य दर्शन चैतन्य को पुरुषनिष्ठ एवं ज्ञान को प्रकृतिनिष्ठ मानता है। जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है, वह औपाधिक गुण नहीं है और अनित्य भी नहीं है। मुक्तावस्था में भी ज्ञान आत्मा के साथ रहता है। इसलिए चैतन्य और ज्ञान में कोई भेदरेखा नहीं खींची जा सकती।

1.2 जैन दर्शन में ज्ञान का स्वरूप (Nature of Knowledge in Jain Philosophy)

जैन दर्शन में ज्ञान शब्द की तीन व्युत्पत्तियां की गई हैं—

1. **णाती णाणं** — जानना ज्ञान है।

Jain Vishva Bharat Institute (Deemed University) Ladnun

2. **णज्जइ अणेणेति णाणं** — जिससे जाना जाता है, वह ज्ञान है।

3. **णज्जति एतम्हि त्ति णाणं** — जिसमें जाना जाता है, वह ज्ञान है।

जैन दर्शन में ज्ञान को आत्मा का स्वरूप माना गया है। जो जानता है वह आत्मा है और जो आत्मा है वही जानता है। ज्ञान आत्मा का ऐसा धर्म है जो उसे अनात्मा से अलग करता है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत आनन्द और अनंत शक्ति (वीर्य) से संपन्न है। किंतु सांसारिक अवस्था में आत्मा के ये गुण तिरोहित रहते हैं। अत: आत्मा का मूल स्वरूप सांसारिक अवस्था में दृष्टिगोचर नहीं होता है। ज्ञान जीव का विशेषण नहीं अपितु स्वरूप है अत: जीव में यह सामर्थ्य है कि वह संसार के सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों को साक्षात् और यथार्थ रूप में जान सकता है। किंतु कर्मों के आवरण के कारण उसे आंशिक ज्ञान ही होता है। कर्मरूपी मेघ आत्मारूपी सूर्य को आवृत्त कर देते हैं पर उनमें वह शक्ति नहीं है कि वे जीव के ज्ञानरूप स्वभाव को पूर्णत: नष्ट कर सकें। अत: जीव का अक्षर के अनन्तवें भाग जितना ज्ञान हमेशा उद्घाटित रहता है। यदि ऐसा न हो तो जीव फिर अजीव ही बन जायेगा।

जैन दर्शन ज्ञान को न्याय-वैशेषिक की तरह आत्मा का आगंतुक धर्म नहीं मानता तथा सांख्य की तरह प्रकृतिजन्य भी नहीं मानता। ज्ञान तो आत्मा का सहजात गुण है। ज्ञान के अभाव में आत्मा की तथा आत्मा के अभाव में ज्ञान की कल्पना करना भी संभव नहीं है।

न्याय और मीमांसा दर्शन के अनुसार ज्ञेय (पदार्थ) का ज्ञान 'ज्ञान' से होता है पर ज्ञान स्वयं अपने आपको नहीं जानता अत: उसके लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता होती है। इस प्रकार वे ज्ञान को परप्रकाशक मानते हैं, स्वप्रकाशक नहीं। ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धों के अनुसार ज्ञान से भिन्न कोई वस्तु नहीं है अत: ज्ञान स्वप्रकाशक है उसे परप्रकाशक मानना उचित नहीं है।

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है। जिस प्रकार प्रकाश घट-पट आदि प्रमेयों (पदार्थ) को प्रकाशित करता है तथा स्वयं भी उसी प्रकाश से प्रकाशित होता है, उसी प्रकार ज्ञान भी अपने ज्ञान से घट-पट आदि प्रमेयों को जानता है तथा अपने आपको भी जानता है। प्रकाश को प्रकाशित करने के लिए दूसरे प्रकाश की कल्पना करना व्यर्थ है, उसी प्रकार ज्ञान को जानने के लिए किसी दूसरे ज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ है।

1.3 ज्ञान का विषय (Subject of Knowledge)

ज्ञान जब भी होता है किसी न किसी विषय का होता है। विषय रहित अथवा शून्य ज्ञान वस्तुत: ज्ञान नहीं कहलाता। ज्ञान जिस विषय को जानता है, वह ज्ञेय कहलाता है। घट-पट आदि इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य पदार्थ तथा परमाणु, आकाश आदि सूक्ष्म और अतीन्द्रिय सभी पदार्थ जो हमारे ज्ञान के विषय (Object of cognition) बनते हैं, ज्ञेय की कोटि में आते हैं। ज्ञेय के विद्यमान होने पर भी ज्ञान के अभाव में वस्तु को जाना नहीं जा सकता। जैसे — घट-पट आदि पदार्थ सामने पड़े हैं पर कोई दृष्टिहीन व्यक्ति उसे देख और जान नहीं सकता अथवा दृष्टि होते हुए भी यदि वह उस ओर ध्यान नहीं देता तो भी वह उसे जान नहीं पाता। अत: यहां ज्ञान और ज्ञेय के संबंध में भी विचार करना अभीष्ट है।

1.4 ज्ञान और ज्ञेय का संबंध (Relation of Knowledge and Object)

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान और ज्ञेय दोनों स्वतंत्र हैं। ज्ञेय हैं — द्रव्य, गुण और पर्याय। ज्ञान है — आत्मा का गुण, उसका स्वभाव या धर्म।

ज्ञान और ज्ञेय में 'विषय-विषयी भाव' संबंध है। प्रमाता (आत्मा) ज्ञान स्वभाव वाला होता है, इसलिए वह विषयी है। अर्थ (पदार्थ) ज्ञेय स्वभाव वाला होता है, इसलिए वह विषय है। दोनों स्वतंत्र हैं फिर भी ज्ञान में ज्ञेय (अर्थ) को जानने की तथा ज्ञेय में ज्ञान के द्वारा जाने जा सकने की क्षमता है। अत: दोनों में विषय-विषयी संबंध हैं।

1.5 ज्ञान उत्पन्न कैसे होता है? (How to Produce Knowledge)

ज्ञान और ज्ञेय दोनों स्वतंत्र हैं। न तो ज्ञान से ज्ञेय उत्पन्न होता है और न ज्ञेय से ज्ञान। हमारा ज्ञान जाने या न जाने फिर भी पदार्थ अपने रूप में अवस्थित है। यदि वे पदार्थ हमारे ज्ञान की ही उपज हों तो उनकी असत्ता में उन्हें जानने का हमारा प्रयत्न ही क्यों होगा? हम अदृष्ट वस्तु की कल्पना ही नहीं कर सकेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पदार्थ ज्ञान के विषय बनें या न बनें, फिर भी ज्ञान हमारी आत्मा में अवस्थित है। यदि हमारा ज्ञान पदार्थ की उपज हो तो फिर वह पदार्थ का ही धर्म होगा। आत्मा के साथ उसका तादात्म्य नहीं हो सकेगा।

वस्तुस्थिति यह है कि जब हम पदार्थ को जानते हैं, तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता किंतु यह उसका प्रयोग है। ज्ञान या जानने की क्षमता हममें विकसित रहती है किंतु ज्ञान की आवृत्त दशा में हम पदार्थ को किसी माध्यम के बिना नहीं जान सकते। हमारे शरीर, इन्द्रिय और मन अचेतन हैं। जब इनके साथ पदार्थ का संबंध या सामीप्य होता है, तब वे हमारे ज्ञान को प्रवृत्त करते हैं और ज्ञेय पदार्थ जान लिये जाते हैं अथवा हमारे अपने संस्कार किसी पदार्थ को जानने के लिए ज्ञान को प्रेरित करते हैं तब वे जाने जाते हैं। यह ज्ञान की उत्पत्ति नहीं किंतु प्रवृत्ति है। जिस प्रकार शत्रु को देखकर बन्दूक चलाने की इच्छा हुई और बन्दूक चलाई। इस घटना में शक्ति की उत्पत्ति नहीं अपितु उसका प्रयोग है। मित्र को देखकर प्रेम उमड़ आया, यह प्रेम की उत्पत्ति नहीं उसका प्रयोग है। शक्ति और प्रेम हमारे भीतर पहले से निहित हैं। निमित्त मिलने पर उनका प्रयोग हो जाता है। यही स्थिति ज्ञान की है। विषय के सामने आने पर वह उसे ग्रहण कर लेता है। वह प्रवृत्ति मात्र है। जितनी ज्ञान की क्षमता होती है, उसके अनुसार ही वह जानने में सफल हो सकता है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय और क्षयोपशम से उसकी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार ज्ञान आत्मा का स्वभाव है अत: उसकी उत्पत्ति नहीं होती मात्र उसकी प्रवृत्ति होती है।

1.6 ज्ञान की सीमा (Limitation of Knowledge)

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का गुण है। ज्ञान का कार्य है ज्ञेय को जानना। ज्ञेय (वस्तु) अनन्त हैं अत: ज्ञान भी अनन्त है। आत्मा में अनन्त ज्ञान है। वह अनन्त पदार्थों को युगपत् (एक साथ) जान सकती है, देख सकती है पर व्यवहार में इसके विपरीत देखते हैं। हमें प्रत्येक प्राणी में ज्ञान की भिन्नता और तरतमता दिखाई देती है। इस तरतमता का कारण क्षयोपशम वैचित्र्य (चेतना की निर्मलता की तरतमता) है। हमारी चेतना ज्ञान को आवृत्त करने वाले कर्म-पुद्गलों से आच्छादित (ढकी हुई) है। यह आच्छादन जितना-जितना कम होता है उतनी-उतनी हमारी चेतना निर्मल होती जाती है। इस प्रकार चेतना का अनावरण ही हमारी ज्ञान-सीमा का नियामक है। आवरण का कृत्स्न (सम्पूर्ण) विनाश होने पर ज्ञान की सीमा भी समाप्त हो जाती है और वह ज्ञान अनन्त, अपरिमित हो जाता है।

चेतना की आवरण दशा में होने वाले ज्ञान मुख्यत: दो प्रकार के हैं — प्रथम प्रकार में वे ज्ञान आते हैं, जिनमें ज्ञाता आत्मा के द्वारा सीधा (Direct) ज्ञेय को जानता है। ज्ञाता और ज्ञेय के बीच कोई व्यवधान नहीं होता। इन्हें अपूर्ण अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष या विकल प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। यह दो प्रकार का है — 1. अवधिज्ञान, 2. मन:पर्यवज्ञान।

अवधिज्ञान की सीमा है — मूर्त्त द्रव्य के अनगिनत (असंख्यात) पर्याय। मूर्त्त द्रव्य में पुद्गल के अनन्त रूप परिगणित होते हैं अत: अवधिज्ञान की उत्कृष्ट सीमा है — अनन्त द्रव्य तथा अनन्त पर्याय। मन:पर्यवज्ञान केवल मनोद्रव्य का साक्षात् करता है, अत: उसकी सीमा है। मनन क्रिया में परिणत मनोवर्गणा के असंख्य अनन्तप्रदेशी स्कन्ध एवं उनकी पर्याय।

दूसरे प्रकार में वे ज्ञान आते हैं जिनमें ज्ञाता आत्मा के द्वारा सीधा ज्ञेय को नहीं जानता अपितु इन्द्रिय और मन की सहायता से जानता है। यह भी दो प्रकार का है — 1. मतिज्ञान, 2. श्रुतज्ञान।

इन्द्रिय और मन से होने वाले इन सभी ज्ञानों की सीम है। इन्द्रियां प्रतिनियत विषय को ही ग्रहण करती हैं, अतीत और अनागत को नहीं। वे केवल वर्तमान को ही जानती हैं। इन्द्रियां द्रव्य को नहीं अपितु उनमें रहने वाले स्पर्श, रस आदि गुणों को ही जानती हैं। यह इन्द्रिय ज्ञान की सीमा है। मन इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों का संकलन, विश्लेषण तथा समालोचन करता है। साक्षात् विषय को ग्रहण नहीं करता — यह मानसज्ञान की सीमा है।

1.7 ज्ञान के विभाग (Types of Knowledge)

जैन दर्शन में ज्ञान के पांच भेद हैं —

1. **मतिज्ञान** — इन्द्रिय एवं मन के माध्यम से होने वाला ज्ञान।
2. **श्रुतज्ञान** — शब्द, संकेत और शास्त्र आदि के माध्यम से होने वाला ज्ञान।
3. **अवधिज्ञान** — आत्मा के माध्यम से रूपी (मूर्त्त) द्रव्यों का होने वाला ज्ञान।
4. **मन:पर्यवज्ञान** — मनोवर्गणा के माध्यम से आत्मा के द्वारा मानसिक भावना को जानने वाला ज्ञान।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. **केवलज्ञान** — आत्मा के द्वारा समस्त मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्यों एवं उनकी समस्त पर्यायों को जानने वाला ज्ञान।

जैन ज्ञानमीमांसा में प्राचीन काल से ही ज्ञान के ये पांच भेद स्वीकृत हैं। पांचों ही ज्ञान जीव में होते हैं। इनकी विस्तृत चर्चा अब क्रमश: करेंगे।

नंदीसूत्र में ज्ञान के दो विभाग भी किये गये हैं — 1. प्रत्यक्ष, 2. परोक्ष।

आत्मा से सीधा (Direct) होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष एवं इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान परोक्ष कहलाता है। इस दृष्टि से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष तथा अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष के अंतर्गत आते हैं।

यद्यपि ज्ञान के पांच प्रकार बतलाये गये हैं पर वास्तव में ज्ञान एक ही है। शेष चार उसके प्रकार हैं। स्वाभाविक या वास्तविक ज्ञान केवलज्ञान है। वह आत्मा से कभी पृथक् नहीं होता। उसका अनन्तवां भाग सदैव उद्घाटित (अनावृत्त) रहता है। उस अनावृत्त अंश के आधार पर चार ज्ञान बनते हैं। केवलज्ञान और उसके परिवारभूत चार ज्ञानों को तीन स्तरों में विभक्त किया जा सकता है —

1. इन्द्रियजन्यज्ञान — मतिज्ञान और श्रुतज्ञान।
2. अतीन्द्रियज्ञान — अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान।
3. सर्वथा अनावृत्त (अतीन्द्रिय) — केवलज्ञान।

चार ज्ञान केवलज्ञान के अंशभूत हैं अत: उन्हें स्वाभाविक कहा जा सकता है। ये परिवर्तित होते रहते हैं, सदा एकरूप नहीं रहते अत: इन्हें अनित्य भी कहा जा सकता है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान — ये दो ज्ञान सब जीवों में होते हैं। अवधिज्ञान होने पर तीन और मन:पर्यवज्ञान होने पर चार ज्ञान एक व्यक्ति में एक साथ (उपलब्धि की दृष्टि से) हो सकते हैं। इस प्रकार उपलब्धि की दृष्टि से ज्ञान प्राप्ति के पांच विकल्प बन सकते हैं —

- ✲ एक साथ — मतिज्ञान, श्रुतज्ञान।
- ✲ एक साथ — मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान।
- ✲ एक साथ — मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मन:पर्यवज्ञान।
- ✲ एक साथ — मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान।
- ✲ एक साथ — केवलज्ञान।

केवलज्ञान में कोई तरतमभाव नहीं होता। शेष ज्ञानों में बहुत बड़ा तारतम्य हो सकता है। एक व्यक्ति का मतिज्ञान दूसरे व्यक्ति के मतिज्ञान से अनन्त गुणा हीनाधिक हो सकता है। ज्ञान की तरतमता को देखा जाए तो उसके असंख्य विभाग हो सकते हैंक्योंकि ज्ञान के पर्याय अनन्त हैं —

- ✲ मन:पर्यवज्ञान के पर्याय सबसे थोड़े हैं।
- ✲ अवधिज्ञान के पर्याय उससे अनन्त गुणा अधिक हैं।
- ✲ श्रुतज्ञान के पर्याय उससे अनन्त गुणा अधिक हैं।
- ✲ मतिज्ञान के पर्याय उससे अनन्त गुणा अधिक हैं।
- ✲ केवलज्ञान के पर्याय उससे अनन्त गुणा अधिक हैं।

ज्ञान के भेद बताने के बाद सर्वप्रथम हम मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दो ज्ञानों की चर्चा इस इकाई में करेंगे।

2.1 मतिज्ञान (Perceptual Cognition)

पांच ज्ञानों में प्रथम ज्ञान मतिज्ञान है। मतिज्ञान को परिभाषित करते हुए जैन सिद्धान्त दीपिका में कहा गया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है — **'इन्द्रियमनोनिबन्धनं मतिः'।** इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। जैन आगमों में इसके लिए 'आभिनिबोधिक' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। आभिनिबोधिक शब्द अभिनिबोध शब्द से व्युत्पन्न हुआ है। बोध का अर्थ है — जानना, ज्ञान। यहां ज्ञान दो विशेषणों से युक्त है — 'आंभ' तथा 'नि'। आंभ उपसर्ग आंभमुख अर्थ को तथा 'नि' उपसर्ग नियत अर्थ को प्रकट करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अभिनिबोध वह ज्ञान है, जो पदार्थ के अभिमुख और निर्णायक होता है अतः यह वस्तु को ग्रहण करने वाला स्पष्ट बोध है। इसे स्थाणु (ठूंठ) के दृष्टान्त से समझा जा सकता है। रात्रि में मन्द प्रकाश के कारण जब व्यक्ति कुछ दूरी पर स्थित पुरुष के आकार-प्रकार जैसे ठूंठ (सूखा वृक्ष) को देखता है तब उसके मन में प्रश्न उठता है कि यह पुरुष है या स्थाणु। वह इसी चिंतन में रहता है, कोई निर्णय नहीं कर पाता किंतु थोड़ी देर बाद जब वह यह देखता है कि यहां से कोई पक्षी उड़ा है तो वह इस निर्णय पर पहुंच जाता है कि यह स्थाणु होना चाहिए क्योंकि पक्षी पुरुष के सिर पर नहीं अपितु स्थाणु पर ही संभव हो सकते हैं। इस प्रकार आभिनिबोधिक ज्ञान इन्द्रिय एवं मन से होने वाला निश्चयात्मक और स्पष्ट ज्ञान है। यह मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होता है।

2.2 मतिज्ञान के भेद-प्रभेद (Types of Perceptual Cognition)

नंदी सूत्र में मतिज्ञान के मुख्यतः दो भेद निर्दिष्ट हैं —

1. श्रुतनिश्रित मतिज्ञान।
2. अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान।

2.3 श्रुतनिश्रित मतिज्ञान (Depending on the Verbal Symbol)

श्रुतनिश्रित अर्थात् जिसकी मति श्रुत से संस्कारित होती है, उस व्यक्ति को किसी विषय का ज्ञान करते समय श्रुत का सहारा लिये बिना उस विषय में जो मतिज्ञान उत्पन्न होता है, वह श्रुतनिश्रित मतिज्ञान है। इसके चार प्रकार हैं —

1. अवग्रह,
2. ईहा,
3. अवाय,
4. धारणा।

2.3.1 अवग्रह (Sensation)

इन्द्रिय और मन से होने वाला मतिज्ञान आत्मा से होने वाले ज्ञान की भांति समर्थ नहीं होता इसलिए इसमें क्रमिक ज्ञान होता है। इस क्रम में सर्वप्रथम अवग्रह आता है। अवग्रह का सामान्य अर्थ है — ज्ञान (Knowing)। जब रूप, रस, गंध आदि विषय इन्द्रियों के उचित सामीप्य को प्राप्त करते हैं तब प्रथम क्षण में मात्र उसकी सत्ता का सामान्य बोध होता है, उसे 'दर्शन' कहा जाता है। दर्शन (सामान्य बोध) के बाद जब ज्ञाता उस विषय के विशेष धर्मों को जानने में प्रवृत्त होता है तो उस प्रवृत्ति का प्रथम चरण अवग्रह है। अवग्रह के द्वारा वस्तु के जो धर्म जाने जाते हैं उनमें जाति, द्रव्य, गुण आदि की कल्पना का अभाव रहता है अर्थात् अवग्रह में वस्तु का ज्ञान करते समय हम यह नहीं जान पाते कि यह किस जाति का है या इसका द्रव्य और गुण क्या है? जाति, द्रव्य, गुण आदि से वस्तु का उल्लेख न कर पाने के कारण यह विशेष ज्ञान भी सामान्य जैसा ही होता है।

अवग्रह के प्रकार (Types of Sensation)

नन्दीसूत्र में अवग्रह के दो प्रकार बताये गये हैं —

1. व्यंजनावग्रह 2. अर्थावग्रह

1. व्यंजनावग्रह (Indeterminate Cognition of the Object)

इसमें दो शब्द है — व्यंजन और अवग्रह। शब्द, रूप, रस आदि विषयों के साथ इन्द्रिय का संबंध होना व्यंजन है किंतु उसके द्वारा जो शब्द, रूप आदि का अस्पष्ट बोध होता है, वह व्यंजनावग्रह है। यह अव्यक्त ज्ञान सुप्त, मत्त और मूर्च्छित पुरुष के ज्ञान जैसा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. अर्थावग्रह

इसमें व्यंजनावग्रह की अपेक्षा कुछ स्पष्टता होती है किंतु यह भी पदार्थ का जाति, द्रव्य, गुण आदि की कल्पना से रहित ज्ञान है। व्यंजनावग्रह में श्रोत्र आदि इन्द्रियां जब शब्द आदि द्रव्यों से आपूरित हो (भर) जाती हैं तब द्रव्य और इन्द्रिय का परस्पर संसर्ग होता है और उसके बाद जो नाम, जाति आदि से रहित वस्तु का ग्रहण होता है, वह अर्थावग्रह है।

व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह किस प्रकार होते हैं अथवा इन्द्रिय का विषय के साथ सम्पर्क होने पर ज्ञान का क्रम कितना धीरे-धीरे आगे बढ़ता है — इसे समझाने के लिए दो दृष्टान्त दिये जाते हैं।

1. सुषुप्त का दृष्टान्त

एक व्यक्ति गहरी नींद में सोया हुआ है। दूसरा व्यक्ति उसे जगाने के लिए बार-बार आवाज देता है। वह सोया हुआ व्यक्ति पहली बार आवाज देने पर नहीं जागता। दूसरी बार आवाज देने पर भी नहीं जागता। इस प्रकार बार-बार आवाज देने पर जब उसके कान उन ध्वनि-पुद्गलों से पूरी तरह भर जाते हैं, तब वह अवबोध सूचक 'हुं' यह शब्द करता है। ध्वनि-पुद्गलों से कान के आपूरित होने में असंख्य समय लगता है। इन्द्रिय और विषय का यह असंख्य समय वाला प्राथमिक संबंध व्यंजनावग्रह है। इसके पश्चात् व्यंजनावग्रह से कुछ व्यक्त किंतु अव्यक्त 'शब्द' का ग्रहण अर्थावग्रह है। इसमें जाति, द्रव्य, गुण की कल्पना से रहित वस्तु का ग्रहण होता है। इसलिए अर्थावग्रह को अव्यक्त ज्ञान कहा जाता है। व्यंजनावग्रह में असंख्य समय एवं अर्थावग्रह में एक समय लगता है।

2. सकोरे का दृष्टान्त

दूसरा दृष्टान्त मल्लक (सकोरे) का है। जब सकोरे को पकाने के बाद भट्ठे पर से उतारा जाता है, उस समय वह अत्यन्त गर्म एवं रुक्ष होता है। एक व्यक्ति उसे गीला करने के लिए जल की एक बूंद डालता है। वह बूंद वहीं भस्म हो जाती है। वह दूसरी बूंद डालता है, वह भी नष्ट हो जाती है। तीसरी, चौथी, पांचवीं और इसी क्रम से अनेक बूंदें डाली जाती हैं पर उनकी भी वही गति हो जाती है। बूंदें डालते-डालते एक समय ऐसा आता है जब कोई बूंद से वह सकोरा गीला दिखाई देने लगता है। बूंदें डालने का क्रम बराबर चलता रहे तो वह भर भी सकता है। जिस प्रकार पहली बूंद उस नये सकोरे को गीला नहीं कर सकती उसी प्रकार एक शब्द पुद्गल कान में जाने से अवग्रह का कारण नहीं बन सकता। प्रचुर मात्रा में जल की बूंदे डालने पर सकोरा गीला हो जाता है उसी प्रकार पर्याप्त मात्रा में ध्वनिपुद्गलों का कान के साथ संयोग होने पर शब्द का अवग्रह होता है। यही बात कान की भांति अन्य इन्द्रियों पर भी लागू होती है। इस प्रकार व्यंजनावग्रह एवं अर्थावग्रह दोनों ही अव्यक्त ज्ञान हैं, पर अर्थावग्रह व्यंजनावग्रह की अपेक्षा कुछ व्यक्त है। अर्थावग्रह को दर्पण के दृष्टान्त से समझ सकते हैं।

दर्पण का दृष्टान्त

अर्थावग्रह को समझने के लिए दर्पण का दृष्टान्त उपयोगी है। जैसे दर्पण के सामने कोई भी वस्तु आती है तो तुरन्त ही उसमें उसका प्रतिबिम्ब पड़ जाता है और वह वस्तु दर्पण में दिखाई देने लगती है। वस्तु का दर्पण के साथ संयोग होना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार आंखों के सामने कोई भी वस्तु आती है तो वह तुरन्त ही सामान्य रूप से दिखाई दे जाती है। इसके लिए नेत्र और उस पदार्थ के साक्षात् संयोग की आवश्यकता नहीं रहती, जैसे कि कान और शब्द में साक्षात् संयोग की अपेक्षा रहती है। नेत्र से ज्ञान करने के लिए पदार्थ के साथ साक्षात् संयोग की आवश्यकता नहीं रहती इसलिए नेत्र से सीधा अर्थावग्रह ही होता है, व्यंजनावग्रह नहीं। नेत्र की भांति मन को भी पदार्थ का ज्ञान करने के लिए साक्षात् संबद्ध होने की आवश्यकता नहीं रहती अत: नेत्र की भांति मन के भी व्यंजनावग्रह नहीं होता, सीधा अर्थावग्रह होता है। शेष चार इन्द्रियों — स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय तथा श्रोत्रेन्द्रिय का अपने-अपने विषय के साथ साक्षात् संयोग अपेक्षित होता है अत: इन चारों इन्द्रियों के पहले व्यंजनावग्रह होता है, उसके बाद अर्थावग्रह होता है।

2.3.2 ईहा (Speculation)

सामान्यत: ऐसा अनुभव होता है कि जैसे ही आंख के साथ रूप का, शब्द के साथ कान का या किसी अन्य इन्द्रिय का अपने विषय के साथ सन्निकर्ष होता है तो तत्काल ही ज्ञान हो जाता है। पर सूक्ष्मता से विचार करने पर यह स्पष्ट है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कि रूप, रस आदि का जो ज्ञान होता है, वह एक क्षण में घटित होने वाली घटना नहीं है। उसके ज्ञान का क्रम है। प्रथम क्षण में तो उसका अव्यक्त-सा अवग्रहण मात्र होता है। तत्पश्चात् अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये ज्ञान की स्पष्टता के लिए चेष्टा विशेष की जाती है, जिसे ईहा कहते हैं। ज्ञान की प्रक्रिया में अवग्रह के बाद ईहा का क्रम है।

ईहा शब्द का सामान्य अर्थ है — चेष्टा या इच्छा। अवग्रह द्वारा ज्ञात अर्थ को विशेष रूप से जानने की इच्छा ईहा है। ईहा वह ज्ञानांश है, जिसमें ज्ञाता अवग्रह द्वारा समान्य रूप से ज्ञात वस्तु के विशेष धर्मों, पर्यायों या अवस्थाओं के ज्ञान के लिए प्रयत्न करता है। अवग्रह और ईहा के बीच संशय होता है। जैसे कोई व्यक्ति गहरी नींद में सोया हुआ है। अचानक कोई आवाज सुनकर वह जाग जाता है। जागृति के साथ ही उसे यह अनुभव तो हो जाता है कि उसके कान में कोई शब्द का प्रवेश हुआ है पर वह यह नहीं जान पाता कि वह शब्द किसका है। अत: 'शब्द किसका है' इस बात का निर्णय करने के लिए उसे पहले संशय की प्रक्रिया से गुजरन पड़ता है। जैसे यह शब्द शंख का है या शार्ङ्ग का है। इस प्रकार के संशय के बाद इस शब्द में शंख के मधुरता आदि धर्म घटित होते हैं तथा शार्ङ्ग के कर्कशता आदि धर्म नहीं हैं अत: यह शब्द शंख का होना चाहिए।

इस प्रकार यह शब्द 'शंख का है या शार्ङ्ग का' इस संशय से ऊपर उठकर जब यह निर्णय किया जाता है कि यह शब्द 'शंख का होना चाहिए' तो वह ईहा कहलाता है। समय की सूक्ष्मता के कारण हमें ईहा आदि का स्पष्ट अनुभव न भी हो, पर पदार्थ ज्ञान के क्रम को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ईहा का कालमान अन्तर्मुहूर्त्त है। ईहा, ऊह, तर्क, परीक्षा, विचारणा, जिज्ञासा आदि एकार्थक शब्द हैं।

2.3.3 अवाय (Judgment)

मतिज्ञान का तीसरा चरण है — अवाय। यह निश्चयात्मक ज्ञान है। इसमें न संशय रहता है, न संभावना। 'यह शब्द ही है', 'यह रूप ही है' — इस आकार वाला निश्चयात्मक ज्ञान अवाय है। ईहा में 'यह शब्द शंख का होना चाहिए' इस प्रकार का ज्ञान होता है जबकि अवाय में 'यह शब्द शंख का ही है' — इस प्रकार का निर्णयात्मक ज्ञान होता है। अवाय का कालमान भी अन्तर्मुहूर्त्त है।

2.3.4 धारणा (Retention)

धारणा इन्द्रिय ज्ञान की प्रक्रिया का अंतिम अंग है। अवाय में जो निश्चित ज्ञान होता है, उसकी लम्बे समय तक अवस्थिति धारणा है। जितना हमारा धारणाबल पुष्ट होता है उतना ही हमारा स्मृति कोष समृद्ध बनता है। इसलिए अवाय द्वारा निर्णीत अर्थ को इस प्रकार धारण करना कि वह कालान्तर में भी याद रह सके, वह धारणा है। जैसे 'ऐसा मीठा शब्द शंख का ही होता है' — इस बात को लम्बे समय तक धारण करके रखना धारणा है। प्राय: हम याद किये गये श्लोकों को या पाठ को शीघ्र ही भूल जाते हैं, इसका कारण यही है कि हमने उन श्लोकों को या उस पाठ को अच्छी तरह से धारण नहीं किया। धारणा के अभाव में स्मृति अच्छी नहीं रहती। धारणा का कालमान संख्यात-असंख्यात काल माना गया है।

2.4 मतिज्ञान के 28 भेद (28 Types of Perceptual Knowledge)

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान चार प्रकार का होता है — अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। ये चारों पांच इन्द्रियों और एक मन — इन छहों के साथ अलग-अलग संबंध करने से छ:-छ: प्रकार के हो जाते हैं। जैसे — 1. श्रोत्रेन्द्रिय अवग्रह, 2. चक्षुरिन्द्रिय अवग्रह, 3. घ्राणेन्द्रिय अवग्रह, 4. रसनेन्द्रिय अवग्रह, 5. स्पर्शनेन्द्रिय अवग्रह, 6. मन: अवग्रह। अवग्रह की तरह छ: प्रकार की ईहा, छ: प्रकार का अवाय और छ: प्रकार की धारणा होती है। इस प्रकार कुल मिलाकर श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के चौबीस भेद हुए और चार भेद व्यंजनावग्रह के मिलाने से अट्ठाईस भेद हो गए। प्रश्न हो सकता है कि व्यंजनावग्रह के चार भेद कौन-से हैं। आप पढ़ चुके हैं कि अवग्रह दो प्रकार का होता है — व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। अर्थावग्रह पांच इन्द्रियों और एक मन इन छहों का होता है जबकि व्यंजनावग्रह चक्षु और मन के नहीं होता, क्योंकि ये दोनों दूर से ही पदार्थ का ज्ञान कर लेते हैं। इनके साथ विषय का संयोग होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार पांचों इन्द्रियों और मन के साथ अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चारों के होने से मतिज्ञान के 28 भेद हो जाते हैं। विशेष स्पष्टता के लिए अवग्रह आदि सभी को उदाहरण से समझ सकते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1. श्रोत्रेन्द्रिय से संबंधित अवग्रहादि

श्रोत्रेन्द्रिय से अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा का ज्ञान एक दृष्टान्त से कर सकते हैं। कान का विषय है — शब्द। कानों में कोई शब्द पड़ा और उससे जो अव्यक्त-सा ज्ञान हुआ वह व्यंजनावग्रह है। फिर 'कोई शब्द है' ऐसा सामान्यज्ञान हुआ वह अर्थावग्रह है। शब्द शंख का है या वीणा का यह संशय है। वीणा का होना चाहिए क्योंकि शंख का शब्द इतना मीठा नहीं होता ऐसा विचार करना ईहा है फिर कुछ चिंतन के बाद यह शब्द वीणा का ही है, ऐसा निश्चय होना अवाय है तथा ऐसा मीठा शब्द वीणा का ही होता है यों सदा के लिए ध्यान में रखना धारणा है।

2. चक्षुरिन्द्रिय से संबंधित अवग्रहादि

चक्षुरिन्द्रिय से अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा का ज्ञान एक दृष्टान्त से कर सकते हैं। चक्षु का विषय है — रूप। जैसे खेत की तरफ दृष्टि पड़ी तथा वहां कोई खड़ा है, ऐसा सामान्य ज्ञान हुआ यह अर्थावग्रह है। इसका व्यंजनावग्रह नहीं होता क्योंकि रूप के पुद्गल चक्षु के अन्दर प्रविष्ट नहीं होते। अर्थावग्रह के बाद यह चञ्चुपुरुष है या आदमी, ऐसा संशय होता है। क्षेत्र (खेत) की रक्षा के लिए पुरुष का वेष पहनाया हुआ पुरुष 'चञ्चुपुरुष' कहलाता है। चञ्चुपुरुष होना चाहिए क्योंकि यदि यह आदमी होता तो इसके सिर पर काक आदि पक्षी कैसे बैठे होते, ऐसी विचारणा करना ईहा है। ईहा के बाद चञ्चुपुरुष ही है, ऐसा निश्चय करना अवाय है तथा उक्त निश्चय को भविष्य में सदा याद रखना धारणा है।

3. घ्राणेन्द्रिय से संबंधित अवग्रहादि

घ्राणेन्द्रिय से अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा का ज्ञान एक दृष्टान्त से कर सकते हैं। घ्राण का विषय है — गंध। नाक में गंध के पुद्गल पड़े और उनसे जो अव्यक्त-सा ज्ञान हुआ वह व्यंजनावग्रह है। उसके बाद 'कुछ गंध आ रही है' ऐसा सामान्यज्ञान हुआ, वह अर्थावग्रह है। इसके बाद सुगंधि है या दुर्गन्धि, इस प्रकार संशय होता है। संशय के बाद 'सुगंधि होनी चाहिएक्योंकि इसे सूंघकर मन में प्रसन्नता हो रही है। यह ज्ञान ईहा है। 'सुगंधि ही है' इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान अवाय है तथा इस सुगंधि को स्मृति में सदा बनाये रखना धारणा है।

4. रसनेन्द्रिय से संबंधित अवग्रहादि

रसनेन्द्रिय से अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा का ज्ञान एक दृष्टान्त से कर सकते हैं। रसना का विषय है — रस। रस के पुद्गल जीभ पर लगने से जो अव्यक्त-सा ज्ञान होता है, वह व्यंजनावग्रह है। उसके बाद 'कोई रस है' ऐसा सोचना अर्थावग्रह है। रस नींबू का है या आम का, यह संशय है। खट्टा-मीठा होने से आम का होना चाहिए, यह ईहा है। 'आम का ही है' इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान अवाय है तथा इसे भविष्य में सदा याद रखना धारणा है।

5. स्पर्शनेन्द्रिय से संबंधित अवग्रहादि

स्पर्शनेन्द्रिय से अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा का ज्ञान एक दृष्टान्त से कर सकते हैं। स्पर्शनेन्द्रिय का विषय है — स्पर्श। अंधकार में चलते समय किसी वस्तु का स्पर्श होने से जो अव्यक्त-सा ज्ञान होता है वह व्यंजनावग्रह है, फिर उसके बाद 'कुछ स्पर्श हुआ है' ऐसा सामान्य-सा जो ज्ञान होता है वह अर्थावग्रह है। 'रस्सी है या सांप' यह संशय है। संशय के बाद रस्सी होनी चाहिए, सांप होता तो फुंकार अवश्य करता, ऐसा चिंतन ईहा है। 'रस्सी ही है' ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान अवाय है तथा लम्बे समय तक इसे स्मृति में धारण करना धारणा है।

6. मन से संबंधित अवग्रहादि

मन से अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा का ज्ञान एक दृष्टान्त से कर सकते हैं। मन का विषय है — चिंतन-मनन एवं कल्पना करना। किसी व्यक्ति ने अव्यक्त स्वप्न देखा और सोचा, मुझे कोई स्वप्न आया है। यह अर्थावग्रह है। (मन का व्यंजनावग्रह नहीं होता) स्वप्न शुभ है या अशुभ यह संशय है। संशय के बाद स्वप्नशास्त्र के अनुसार शुभ होना चाहिए, यह विचार करना ईहा है। 'शुभ ही है' ऐसा निश्चय अवाय है तथा ऐसा स्वप्न शुभ ही होता है, भविष्य में इससे सदा कायम रखना धारणा है।

व्यंजनावग्रह का कालमान असंख्य समय है। अर्थावग्रह का कालमान एक समय है। ईहा, अवाय का कालमान अन्तर्मुहूर्त है और धारणा संख्यात, असंख्यात काल तक भी रह सकती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के इन अट्ठाईस भेदों को हम इस चार्ट के माध्मय से भी समझ सकते हैं—

इन्द्रिय	व्यंजनावग्रह	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा	योग
1. स्पर्शन	✓	✓	✓	✓	✓	5
2. रसन	✓	✓	✓	✓	✓	5
3. घ्राण	✓	✓	✓	✓	✓	5
4. चक्षु	×	✓	✓	✓	✓	4
5. श्रोत्र	✓	✓	✓	✓	✓	5
6. मन	×	✓	✓	✓	✓	4

2.5 अवग्रह आदि का उत्पत्ति क्रम (Process of Obtaining Knowledge)

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का न उत्क्रम होता है और न व्यतिक्रम। इनका एक निश्चित क्रम है। सबसे पहले पदार्थ का ग्रहण होता है। अर्थग्रहण के बाद ही उस पदार्थ का विचार हो सकता है, विचार के बाद ही निश्चय और निश्चय होने के बाद ही धारणा होती है। इसलिए ईहा अवग्रहपूर्वक, अवाय ईहापूर्वक और धारणा अवायपूर्वक होती है। अवग्रह आदि चारों परस्पर भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। ये एक ही वस्तु विषयक ज्ञान की धारा के प्रकाशक हैं अत: अभिन्न हैं फिर भी इनमें प्रत्येक की अपनी विशेष स्थितियां हैं जो कि इन्हें एक-दूसरे से पृथक् भी करती हैं। भिक्षु न्याय कर्णिका में तीन कारणों से इनमें परस्पर भिन्नता बतलाई गई है—**'असामस्त्येनापि उत्पद्यमानत्वात् अपूर्वापूर्ववस्तु पर्यायप्रकाशकत्वात् क्रमभावित्वाच्च एते व्यतिरिच्यन्ते'**। वे तीन कारण हैं—

1. असामस्त्येन उत्पत्ति (असमस्त रूप से उत्पत्ति)
2. अपूर्वापूर्व प्रकाश (एक ही वस्तु की नयी-नयी पर्याय का ज्ञान)
3. क्रमभावित्व (क्रम से होने वाला ज्ञान)।

1. असामस्त्येन उत्पत्ति

अवग्रह आदि चारों असमस्तरूप से भी उत्पन्न होते हैं। एक के उत्पन्न होने के बाद दूसरा उत्पन्न हो ही, यह आवश्यक नहीं। ज्ञान का क्रम अवग्रह, ईहा, अवाय कहीं पर भी रुक सकता है। ज्ञान का क्रम धारण तक पहुंचे ही, यह आवश्यक नहीं है।

2. अपूर्वापूर्वप्रकाश

अवग्रह, ईहा आदि चारों नये-नये पर्यायों का बोध कराते हैं। ये एक ही वस्तु के नये-नये पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। इससे एक बात और भी स्पष्ट होती है कि अपने-अपने विषय में इन सबकी निर्णायकता है, इसलिए ये सब प्रमाण है।

3. क्रमभावित्व

अवग्रह आदि चारों क्रम से उत्पन्न होते हैं। इनकी धारा अन्त तक चले यह कोई नियम नहीं है, किंतु जब तक चलती है तब तक क्रम का उल्लंघन नहीं होता है। ईहा हुई है तो यह निश्चित है कि उससे पूर्व अवग्रह हो चुका है।

इस प्रकार मतिज्ञान के इन भेदों की उत्पत्ति इसी क्रम से होती है। अपरिचित वस्तु के ज्ञान में इस क्रम का हमें स्पष्ट अनुभव होता है। पहली बार किसी अपरिचित वस्तु को देखते हैं, पढ़ते हैं या सुनते हैं तो उसका अवग्रह मात्र होता है, फिर धीरे-धीरे जानने का प्रयास करने पर वह ज्ञान धारणा तक पहुंचता है। कभी-कभी जब हम परिचित वस्तु को देखते हैं, पढ़ते हैं या सुनते हैं तो ऐसा लगता है मानो सीधा अवाय ज्ञान हो गया हो, क्योंकि देखते ही हमें उसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। अति परिचित पदार्थ का ज्ञान भी अवग्रह, ईहा आदि के क्रम से ही होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

यह अलग बात है कि अति शीघ्रता से होने के कारण वह क्रम हमें दिखलाई नहीं देता। उदाहरण के लिए कमल के सौ पत्तों को एक-दूसरे पर जमाकर कोई उसमें पूरी शक्ति के साथ सुई डाले तो वह सुई इतनी शीघ्रता से पत्तों में घुस जायेगी कि ऐसा लगेगा कि सब पत्ते एक साथ ही छिद गये हों, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। वह सुई एक के बाद दूसरे पत्ते में प्रविष्ट होती है, दूसरे के बाद तीसरे में प्रविष्ट होती है। जब स्थूल कमल के पत्तों के छेद का क्रम भी दृष्टिगोचर नहीं होता तो सूक्ष्म ज्ञानधारा का क्रम दिखलाई न पड़े तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। क्रम चाहे प्रतीत हो या न हो पर यह निश्चित है कि जब भी हम किसी विषय का ज्ञान करते हैं तो हमें धारणा तक पहुंचने से पूर्व अवग्रह, ईहा, अवाय के क्रम से गुजरना पड़ता है।

2.6 अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान (Not depending on Verbal Symbol)

अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान में अध्ययन अथवा शास्त्राभ्यास की अपेक्षा नहीं रहती। यह विशुद्ध मतिज्ञान है। इसमें द्रव्य अथवा भाव किसी प्रकार के श्रुत की अपेक्षा नहीं रहती। श्रुतनिश्रित मतिज्ञान में पहले पढ़े हुए या परम्परा से प्राप्त संकेत आदि से वस्तु का ज्ञान होता है जबकि अश्रुतनिश्रित में इनकी अपेक्षा नहीं रहती। इसमें स्वत: ज्ञान उत्पन्न होता है तथा यह मतिज्ञानावरण के विशेष क्षयोपशम से प्राप्त होता है।

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान की भांति अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के भी चार प्रकार हैं, जिन्हें बुद्धि कहा जाता है। वे निम्नलिखित हैं—

1. औत्पत्तिकी बुद्धि,
2. वैनयिकी बुद्धि,
3. कार्मिकी बुद्धि,
4. पारिणामिकी बुद्धि।

2.6.1 औत्पत्तिकी बुद्धि (Instantaneous Comprehension)

'अदृष्टाश्रुतार्थ ग्राहिणी औत्पत्तिकी' जिसे कभी देखा नहीं, जिसके विषय में कभी सुना नहीं, उस विषय को ग्रहण करने में निपुण बुद्धि औत्पत्तिकी बुद्धि कहलाती है इस बुद्धि को प्रतिभा या प्रातिभज्ञान भी कहा जाता है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से किसी की ज्ञानचेतना इतनी पारदर्शी बन जाती है कि वह बिना किसी शास्त्र को पढ़े या बिना किसी वस्तु को देखे, उस विषय के बारे में तत्काल यथार्थ जानकारी कर लेता है। अदृष्टपूर्व एवं अश्रुतपूर्व पदार्थ को तत्काल ग्रहण करने वाली प्रज्ञा औत्पत्तिकी बुद्धि कहलाती है। तत्काल उत्पन्न होने के कारण इसमें ज्ञानक्रम तथा निर्णय में कालक्षेप (समय का व्यवधान) नहीं होता। अदृष्ट और अश्रुत अर्थ का ग्रहण करने के कारण इसे अतीन्द्रिय ज्ञान भी कहा जा सकता है। नन्दीसूत्र में औत्पत्तिकी बुद्धि को समझाने के लिए अनेक दृष्टान्त दिये गये हैं, उनमें से एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

उज्जयिनी नगरी के पास नटों का एक गांव था। वहां भरत नामक नट रहता था। उसके पुत्र का नाम रोहक था। उसकी माता का देहान्त हो गया। उसकी सौतेली माँ उसे दु:ख देती थी। उसने अपनी सौतेली माँ से कहा—तुम मुझे दु:ख देती हो, यह अच्छा नहीं है। उसने रोहक की बात पर ध्यान नहीं दिया।

एक दिन रोहक रात के समय अपने पिता के पास मकान की छत पर सोया था। उसकी माँ मकान में सो रही थी।

अचानक रोहक चिल्लाया—पिताजी! देखिए कौन भाग रहा है?

पिता हड़बड़ाकर उठा और बोला—कहां है?

रोहक बोला—वह अभी-अभी इधर से भागा है। भरत को अपनी पत्नी के चरित्र पर संदेह हो गया। वह उसे कुलटा समझने लगा, फलत: पत्नी के प्रति उसका अनुराग शिथिल हो गया।

स्त्री ने सोचा—यह सब रोहक का काम है अत: उसे प्रसन्न करना पड़ेगा। उसने प्रेमपूर्वक रोहक को अपने पास बिठाया और भविष्य में उसके साथ अच्छा व्यवहार करने का वादा किया।

रोहक बोला—माँ चिंता मत करो, मैं पिताजी की अप्रसन्नता दूर कर दूंगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

एक दिन रात को रोहक सोया-सोया फिर चिल्लाया — पिताजी! देखिए, देखिए वह कौन जा रहा है? पिता उठा और हाथ में तलवार लेकर आया तथा बोला — बेटा! कहां है वह पुरुष?

रोहक ने अपनी प्रतिच्छाया की ओर संकेत किया।

पिता ने पूछा — बेटा! उस दिन जो पुरुष आया था वह भी ऐसा ही था क्या?

रोहक ने कहा — हां यही था। भरत को अपने कृत्य पर पश्चाताप हुआ और उस दिन के बाद वह अपनी पत्नी से अनुराग रखने लगा। यह रोहक की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है। आज भी बीरबल, तेनालीराम आदि के अनेक बुद्धिमत्तापूर्ण किस्से नन्दन आदि पत्रिकाओं में पढ़ने को मिलते हैं।

2.6.2 वैनयिकी बुद्धि (An Intellect Born of Modesty)

'विनयसमुत्था वैनयिकी' — विनय से उत्पन्न होने वाली बुद्धि वैनयिकी है। अभिमान ज्ञान का विरोधी है। अत: उससे ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है। विनय से विद्या प्राप्त होती है और विनम्रतायुक्त विद्या से अतिशय पात्रता-अर्हता की उपलब्धि होती है। ज्ञान और ज्ञानी के प्रति विनम्रता का भाव भावविशुद्धि का महत्त्वपूर्ण हेतु है। विनय से उत्पन्न होने वाली बुद्धि अथवा जिसमें विनय की प्रधानता है, वह वैनयिकी बुद्धि है। विशेषावश्यक भाष्य में लिखा है — गुरुजनों की सेवा अथवा गुरु के द्वारा उपदिष्ट शास्त्र के अनुसार चिंतन करते हुए जो ज्ञान पैदा होता है, वह वैनयिकी बुद्धि है। वैनयिकी बुद्धि से संपन्न व्यक्ति की ज्ञानचेतना इतनी निर्मल हो जाती है कि वह कठिन से कठिन कार्य में भी सफलता प्राप्त कर लेता है। जब गुरु का विनय किया जाता है तब विनय से आकृष्ट विद्या स्वयं शिष्य का वरण कर लेती है। विनीत शिष्य वह सब कुछ अनायास ही प्राप्त कर लेता है, जिसे दूसरे महान् प्रयत्न से भी नहीं पा सकते। आगम साहित्य में वैनयिकी बुद्धि को स्पष्ट करने वाला एक दृष्टान्त मिलता है।

एक बार चाण्डाल-पत्नी को गर्भकाल में आम का दोहद पैदा हुआ। उसने अपनी इच्छा पति के सामने रखी। पति के सामने समस्या आ गई। आम का मौसम नहीं, आम कहां से लाये। पता लगा कि राजा श्रेणिक का एक बगीचा है, जिसमें बारह महीने आम लगते हैं। अपनी करामात से आम लेकर आ गया। पत्नी का दोहद पूरा हुआ। पत्नी ने प्रतिदिन आम लाने का अग्रह किया। प्रतिदिन लाने से पेड़ों पर आम कम होने लगे। राजा ने इस समस्या को सुलझाने के लिए अभयकुमार को नियुक्त किया। अभयकुमार ने अपनी बुद्धिनानी से चाण्डाल को पकड़ लिया। राजा के सामने उपस्थित किया।

राजा — तुमने आम चुराए।

चाण्डाल — बिल्कुल नहीं चुराए।

अभयकुमार ने पूछा — क्या तुमने आम तोड़े?

चाण्डाल — हां।

राजा — बगीचे के अन्दर गये बिना तुमने आम कैसे तोड़े?

चाण्डाल — राजन्! मेरे पास दो विद्याएं हैं — उन्नामिनी और अवनामिनी। अवनामिनी के प्रयोग से डालियां नीचे झुक जाती हैं और मैं आम तोड़ लेता हूं। उन्नामिनी के प्रयोग से वे पुन: ऊपर चली जाती हैं।

राजा — ये विद्याएं मुझे सिखा दो, मैं तुम्हें माफ कर दूंगा।

चाण्डाल — ठीक है।

राजा अपने सिंहासन पर बैठ गया और चाण्डाल को नीचे बिठाया। चाण्डाल ने सिखाना शुरू किया पर राजा उन विद्याओं को काफी प्रयत्न के बाद भी सीख नहीं पाया।

अभयकुमार — राजन्! विद्या देने वाला नीचे बैठे और लेने वाला ऊपर बैठे तो विद्या कैसे आयेगी?

विनय से विद्या प्राप्त होती है। राजा तत्काल सिंहासन छोड़ नीचे बैठा और चाण्डाल को ऊपर बैठाया। राजा को वह विद्या तत्काल सिद्ध हो गई। यह वैनयिकी बुद्धि का उदाहरण है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.6.3 कर्मजा बुद्धि (An Intellect Developed by Practical Experience)

'कर्मसमुत्था बुद्धि कार्मिकी'— कर्म करते-करते जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह कार्मिकी बुद्धि है। बुद्धि विकास का एक महत्त्वपूर्ण हेतु है — अभ्यास की निरन्तरता। व्यक्ति जो कार्य नियमित रूप से करता है वह उस कार्य में एक विशिष्ट कौशल का अर्जन कर लेता है। अभ्यास की निरन्तरता से उत्पन्न निपुणता को ही कार्मिकी बुद्धि कहा जाता है। इसमें किसी आचार्य के उपदेश या शास्त्र के अध्ययन की अपेक्षा नहीं रहती। भारवहन, कृषि, वाणिज्य आदि में कुशलता को प्राप्त करना कर्मजा बुद्धि है। नन्दीसूत्र में इसे एक उदाहरण से समझाया गया है।

एक बार किसी तस्कर ने वणिक के घर में पद्म (कमल) के आकार वाली सेंध लगाई। प्रात: उसे देखकर लोगों ने तस्कर के चातुर्य की प्रशंसा की। तस्कर भी उसी घर में आकर अपनी प्रशंसा सुनने लगा। तभी एक किसान बोला — भाई! अभ्यास कर लेने पर क्या दुष्कर होता है? जो जिस कर्म का सदा अभ्यास करता है, वह उसमें निपुणता प्राप्त कर लेता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होती। उसकी बात सुनकर वह तस्कर क्रोधित हो उठा और अगले दिन हाथ में छुरी लेकर किसान के घर पहुंचा और बोला — मैं तुम्हें अभी मारता हूं। किसान ने कारण पूछा तो उसने कहा — तुमने उस दिन मेरे द्वारा लगाई गई सेंध की प्रशंसा नहीं की। किसान ने कहा — तुम ठीक कहते हो। यह सत्य है कि जो जिस विषय में अभ्यास कर लेता है, वह उसमें निपुणता प्राप्त कर सकता है। इसका उदाहरण मैं ही हूं। मेरे हाथ में मूंग के दाने हैं। यदि तुम कहो तो मैं इन सबको अधोमुख गिरा दूं और तुम कहो तो इनको ऊर्ध्वमुख या तिरछा गिरा दूं। यह सुनकर वह तस्कर बड़ा विस्मित हुआ। उसने कहा — इन सबको अधोमुख गिराओ। किसान ने भूमि पर एक कपड़ा बिछाया और उस पर सारे मूंग अधोमुख गिरा दिए। तस्कर को वह कार्य महान् आश्चर्य-सा लगा। उसने किसान के कौशल की प्रशंसा की। पद्माकर सेंध लगाना तस्कर की कर्मजा बुद्धि थी। मूंग को अधोमुख गिराना किसान की कर्मजा बुद्धि थी।

2.6.4 पारिणामिकी बुद्धि (An Intellect Born of Maturity)

'वय:परिणति परिणाम:'— अवस्था के साथ अनुभव से जो बुद्धि प्राप्त होती है, वह पारिणामिकी बुद्धि है। जीवन में आने वाले उतार-चढ़ाव से व्यक्ति में जो बुद्धि पाटव उत्पन्न होता है, वह पारिणामिकी बुद्धि है। शिक्षा, चिकित्सा एवं अनेक सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र ऐसे हैं जहां व्यक्तियों की अन्य योग्यताओं के साथ यह भी ज्ञातव्य बिन्दु रहता है कि उसका अभ्यास या अनुभव कितना है। जिस क्षेत्र में व्यक्ति जितने लम्बे अर्से से काम कर रहा होता है, उस क्षेत्र में कई योग्यताएं उसमें अनायास आ जाती है। जैसे-जैसे अवस्था बढ़ती है वैसे-वैसे पारिणामिकी बुद्धि भी उत्तरोत्तर विकसित होती जाती है। इसे समझाने के लिए अभयकुमार, श्रेष्ठी, क्षुल्लक आदि के दृष्टान्त आगम साहित्य में मिलते हैं।

राजा चण्डप्रद्योत ने राजगृह नगर को घेर लिया। अभयकुमार ने पूर्व सूचना के आधार पर चण्डप्रद्योत के आने से पहले ही सेना के पड़ाव स्थल पर प्रचुर धन गड़वा दिया। फिर चण्डप्रद्योत के पास पहुंचा। प्रणाम करके बोला — मेरे लिए आप और पिताजी दोनों बराबर हैं। मैं आपके लिए हितकारी बात बताता हूं। चण्डप्रद्योत ने बात सुनने की उत्सुकता दिखाई।

अभयकुमार बोला — पिताजी ने आपके सेनापति को रिश्वत देकर अपने वश में कर लिया है। वे लोग प्रात:काल आपको पकड़वा देंगे। राजा को विश्वास दिलाने के लिए वह उन्हें सेनापति के डेरे के पीछे ले गया और गड़ा हुआ धन, जो कि उसने स्वयं ने गाड़ा था, दिखा दिया। राजा उसकी बात से विश्वस्त होकर रात्रि में ही घोड़े पर सवार होकर अपने राज्य में पहुंच गया। यह अभयकुमार की पारिणामिकी बुद्धि है।

2.7 मतिज्ञान का विषय (Subject of Perceptual Cognition)

मतिज्ञान का विषय संक्षेप में चार प्रकार का बताया गया है — द्रव्यत:, क्षेत्रत:, कालत: और भावत:।

1. **द्रव्यत:**— द्रव्य की दृष्टि से मतिज्ञानी सामान्य रूप से सब द्रव्यों को जानता है।
2. **क्षेत्रत:**— क्षेत्र की दृष्टि से मतिज्ञानी सामान्य रूप से सब क्षेत्रों को जानता है।
3. **कालत:**— काल की दृष्टि से मतिज्ञानी सामान्य रूप से सब कालों को जानता है।
4. **भावत:**— भाव की दृष्टि से मतिज्ञानी सामान्य रूप से सब भावों (पर्यायों) को जानता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मतिज्ञान को संक्षेप में इस चार्ट के माध्यम से हम समझ सकते हैं—

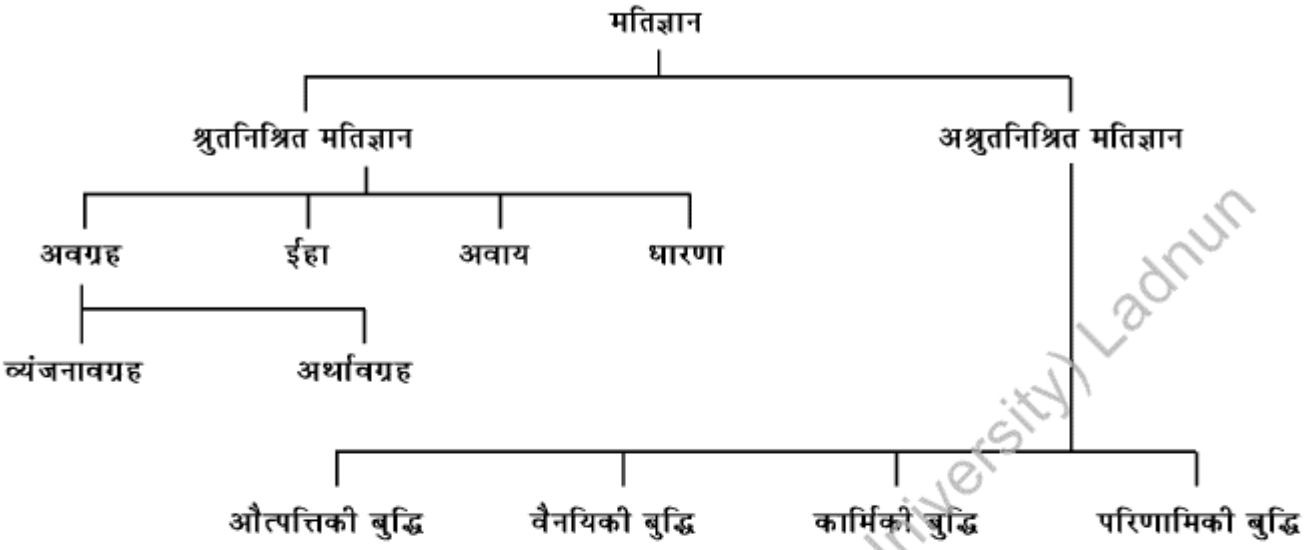

श्रुतज्ञान (Verbal Knowledge)

जैन परम्परा में पंचविध ज्ञान के अंतर्गत श्रुतज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पांच ज्ञानों में चार ज्ञान स्वार्थ हैं, अपने लिए ही उपयोगी हैं तथा एक श्रुतज्ञान वचनात्मक होने से परार्थ है। जिस प्रकार दीपक स्व-पर प्रकाशी होता है। वह अपने आपको प्रकाशित करता है और घट-पट आदि पर (दूसरे) पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। उसी प्रकार श्रुतज्ञान अपने लिए भी उपयोगी है और दूसरों के लिए भी उपयोगी है।

3.1 श्रुतज्ञान का लक्षण (Definition of Verbal Knowledge)

देववाचक ने श्रुतज्ञान का निरुक्त **'सुणतीति सुतं'** किया है—जो सनुता है वह श्रुतज्ञान है। सुनना आत्मपरिणति है अत: आत्मा से अभिन्न होने के कारण आत्मा ही श्रुतज्ञान है किंतु श्रुतज्ञान के इस निरुक्त को लक्षण नहीं माना जा सकता क्योंकि सुनने की क्रिया केवल उन्हीं प्राणियों के लिए संभव है जो श्रोत्रेन्द्रिय संपन्न हों,पंचेन्द्रिय हों। जैन दर्शन के अनुसार अनन्त प्राणी ऐसे हैं जो केवल स्पर्श के द्वारा ही बाह्य जगत् को जान सकते हैं। असंख्य प्राणी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय है, उनके पास भी सुनने का सामर्थ्य नहीं है जबकि जैन दर्शन के अनुसार इन्द्रिय-चेतना संपन्न समस्त प्राणियों में श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से श्रुतज्ञान होता है।

श्रुतज्ञान को परिभाषित करते हुए जैन सिद्धान्त दीपिका में लिखा है—**'द्रव्यश्रुतानुसारि परप्रत्यायनक्षमं श्रुतम्'**—श्रुत के सहयोग से मन और इन्द्रियां जो ज्ञान करती हैं, वह श्रुतज्ञान है। जो सुना जाता है, वह श्रुत है। स्वत: सुनने के लिए या दूसरों को सुनाने-समझाने के लिए श्रुत की अनिवार्य अपेक्षा है। दूसरे शब्दों में श्रुतज्ञान की यह परिभाषा भी की जा सकती है—द्रव्यश्रुत के अनुसार दूसरों को समझाने में समर्थज्ञान श्रुतज्ञान है।

3.2 श्रुतज्ञान के भेद

श्रुतज्ञान दो प्रकार का होता है—

1. द्रव्यश्रुत,
2. भावश्रुत।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

द्रव्यश्रुत-भावश्रुत

शब्द, संकेत आदि का नाम द्रव्यश्रुत है। समझने के दो मार्ग हैं — शब्द और संकेत। हम या तो दूसरे व्यक्ति के वचन से एवं मुख आदि के संकेत से वस्तु का स्वरुप समझते हैं या किसी ग्रंथ विशेष में पढ़कर समझते हैं। दोनों मार्गों में शब्द या संकेत के सहारे ही ज्ञान होता है। इसलिए शब्द एवं संकेत द्रव्यश्रुत कहलाते हैं तथा उनके सहारे से व्यक्ति के हृदय में होने वाला ज्ञान भावश्रुत-श्रुतज्ञान कहलाता है।

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है — श्रुतज्ञान से पहले मतिज्ञान होता ही है क्योंकि कोई भी बात शब्द या संकेत द्वारा समझाई जायेगी तो पहले उसके अवग्रह आदि अवश्य होंगे। मतिज्ञान की तरह श्रुतज्ञान में भी इन्द्रिय और मन की सहायता परम आवश्यक है।

3.3 श्रुतज्ञान का माहात्म्य (Significance of Verbal Knowledge)

श्रुतज्ञान हमारा परम उपकारी है क्योंकि पांच ज्ञानों में यही एक ऐसा ज्ञान है, जो ज्ञान-दान का साधन बनता है। शास्त्रों में कहा गया है कि गुरु द्वारा शिष्यों को जो ज्ञान मिलता है, वह श्रुतज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है। केवलज्ञानी भी यदि किसी को ज्ञानदान करते हैं तो श्रुतज्ञान के द्वारा ही करते हैं। दूसरों को पढ़ाने में उनका केवलज्ञान काम नहीं आता। केवलज्ञान तो दर्पण के समान है। उसमें सब कुछ प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। पर जहां दूसरों को बताने का प्रश्न है, वहां तो श्रुतज्ञान का ही एकमात्र सहारा लेना होता है। इसलिए पंचों ज्ञानों में किसी अपेक्षा से श्रुतज्ञान का महत्त्व अधिक है। हम इसे समझें और अधिकाधिक विकसित करने का प्रयास करें।

3.4 श्रुतज्ञान के भेद (14 Types of Verbal Knowledge)

श्रुतज्ञान के चौदह भेद हैं —

01. अक्षरश्रुत	02. अनक्षरश्रुत	03. संज्ञीश्रुत
04. असंज्ञीश्रुत	05. सम्यक्श्रुत	06. मिथ्याश्रुत
07. सादिश्रुत	08. अनादिश्रुत	09. सपर्यवसितश्रुत
10. अपर्यवसितश्रुत	11. गमिकश्रुत	12. अगमिकश्रुत
13. अंगप्रविष्टश्रुत	14. अनंगप्रविष्टश्रुत	

1. अक्षरश्रुत (Knowledgd by Linguistic Symbols)

जिसका कभी क्षरण अर्थात् नाश न हो उसको अक्षर कहते हैं। जीव के ज्ञान स्वभाव का कभी नाश नहीं होता इसलिए यहां ज्ञान ही अक्षर है। ज्ञानोत्पत्ति में निमित्त होने के कारण उपचार से अकारादि वर्ण भी अक्षर कहे जाते हैं। अक्षररूप जो ज्ञान है, वह अक्षरश्रुत कहलाता है। इसके तीन भेद हैं —

1. संज्ञाक्षर श्रुत,
2. व्यंजनाक्षर श्रुत,
3. लब्ध्यक्षर श्रुत।

1. संज्ञाक्षर श्रुत — संज्ञा के अनेक अर्थ होते हैं पर प्रस्तुत प्रसंग में संज्ञा शब्द का अर्थ है — संकेत, नाम आदि। क, ख आदि आकृति वाले अक्षरों का क, ख आदि नाम रखना संज्ञाक्षर श्रुत है, क्योंकि क, ख आदि आकृतियों के द्वारा ही अक्षरों का ज्ञान होता है। 'क' का आकार देखकर ककार संज्ञा ही उत्पन्न होती है, अकार या खकार नहीं। भिन्न-भिन्न देशों, कालों, प्रांतों एवं संस्थानों की लिपियों के अध्ययन की दृष्टि से संज्ञाक्षर का विशेष महत्त्व है। ये सब उपचार से अक्षर हैं वस्तुतः तो इन अक्षरों द्वारा संकेतित ज्ञान ही संज्ञाक्षर है।

2. व्यंजनाक्षर श्रुत — क, ख आदि का उच्चारण व्यंजनाक्षर है। व्यंजन का मतलब व्यक्त करना है। जब क, ख आदि शब्दों का उच्चारण किया जाता है तब उससे अर्थ की अभिव्यंजना होती है अतः इसका नाम व्यंजनाक्षर है। संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर दोनों ही द्रव्यश्रुत हैं और अजीव हैं। पुस्तकें भी अक्षरों का समूह होने से द्रव्यश्रुत हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. लब्ध्यक्षर श्रुत — अक्षरश्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से व्यक्ति के हृदय में जो अक्षरज्ञान का लाभ होता है, उस अक्षर ज्ञान के लाभ को लब्ध्यक्षर श्रुत कहते हैं। यह भावश्रुत है, जीव है। इन्द्रिय और मन से उत्पन्न इस लब्ध्यक्षर के छह प्रकार हैं —

1. श्रोत्रेन्द्रिय लब्ध्यक्षर, 2. चक्षुरिन्द्रिय लब्ध्यक्षर, 3. घ्राणेन्द्रिय लब्ध्यक्षर,
4. रसनेन्द्रिय लब्ध्यक्षर, 5. स्पर्शनेन्द्रिय लब्ध्यक्षर, 6. नोइन्द्रिय लब्ध्यक्षर।

श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द सुनने के बाद 'यह शंख का शब्द है' इस प्रकार अक्षर से युक्त जो ज्ञान होता है वह श्रोत्रेन्द्रिय लब्ध्यक्षर श्रुत कहलाता है। ऐसे ही नेत्र से देखने के बाद 'यह मनुष्य है', नाक से सूंघने के बाद 'यह फूल गुलाब का है', जीभ से चखने के बाद 'यह दही खट्टा है', त्वचा से छूने के बाद 'यह पानी गरम है' तथा मन से सोचने के बाद 'यह कर्म अच्छा है' आदि-आदि जो अक्षररूप ज्ञान होता है, वह क्रमशः चक्षुरिन्द्रिय लब्ध्यक्षरश्रुत, घ्राणेन्द्रिय लब्ध्यक्षर श्रुत यावत् नोइन्द्रिय लब्ध्यक्षर श्रुत कहलाता है।

2. अनक्षरश्रुत (Knowledge by non-linguistic symbols)

अक्षरों के बिना शरीर की चेष्टा आदि से होने वाला ज्ञान अनक्षरश्रुत कहलाता है। इसके अनेक भेद हैं, जैसे — सांस लेना, सांस छोड़ना, थूकना, खांसना, छींकना एवं ऊं-ऊं आदि चेष्टा करना। इन चेष्टाओं में अक्षरों का उच्चारण न होते हुए भी इनके द्वारा दूसरों के भाव जाने जाते हैं एवं अपने भाव दूसरों को जताये जाते हैं, जैसे — लंबे और भारी सांस लेने से मानसिक दुःख या श्वास का रोग जताया जाता है तथा खांसकर अपने आगमन की सूचना दी जाती है। हाथ, पैर एवं नेत्र के इशारे भी इसी प्रकार समझ लेने चाहिए। यह सारा अनक्षरश्रुत है।

3. संज्ञीश्रुत (Knowledge Relating to Rational Being)

संज्ञी अर्थात् सोचने-विचारने की शक्ति जिस जीव में हो उसे संज्ञी कहते हैं। संज्ञी जीवों का जो श्रुतज्ञान है, वह संज्ञीश्रुत है। संज्ञीजीव तीन प्रकार के होते हैं —

1. कालिक्यूपदेश संज्ञी, 2. हेतूपदेश संज्ञी, 3. दृष्टिवादोपदेश संज्ञी।

1. कालिक्यूदेश संज्ञी

जिसका मानसिक संज्ञान व्यक्त होता है, उसे कालिक्यूपदेश संज्ञी कहते हैं। इसका दूसरा नाम दीर्घकालिकी संज्ञा है, जिसमें भूतकाल की स्मृति, भविष्यकाल का चिन्तन तथा वर्तमान काल की प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यापार होता है, उसे दीर्घकालिकी संज्ञा कहते हैं। यह देव, नारक, गर्भज तिर्यंच और मनुष्यों को होती है।

2. हेतूपदेशक संज्ञी

जो जीव शरीर आदि की रक्षा के लिए तथा इष्ट आहार आदि के लिए प्रवृत्त और अनिष्ट आहार आदि से निवृत्त होते हैं, वे हेतूपदेशक संज्ञी हैं। यह द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों में पायी जाती है, क्योंकि द्वीन्द्रिय आदि प्राणी इष्ट विषय में प्रवृत्ति तथा अनिष्ट विषय से निवृत्तिरूप व्यवहार करते हैं।

3. दृष्टिवादोपदेश संज्ञी

दृष्टिवादोपदेश संज्ञी का अभिप्राय है — सम्यक् ज्ञान। जिसके पास सम्यक् ज्ञान हो, वे जीव दृष्टिवादोपदेश संज्ञी कहलाते हैं। इसके अनुसार संज्ञी वे ही जीव हैं, जिनके अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) और दर्शनमोहनीय त्रिक (सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय) का विलय हो चुका हो। अतः सम्यग् दृष्टि जीवों को संज्ञी एवं मिथ्यादृष्टि जीवों को असंज्ञी कह सकते हैं। वास्तव में संज्ञीश्रुत से यहां मन वाले जीवों का श्रुतज्ञान समझना चाहिए।

4. असंज्ञीश्रुत (Knowledge Relating to Irrational Being)

बिना मन वाले जीवों में जो अव्यक्त ज्ञान है, वह असंज्ञीश्रुत कहलाता है। मक्खी, मच्छर एवं भ्रमर आदि का भौं-भौं शब्द भी इसी में समझना चाहिए। पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीव यद्यपि बिल्कुल मूर्च्छित दशा में हैं फिर भी उनमें आहार ग्रहण करने आदि का जो ज्ञान है, वह भी असंज्ञीश्रुत ही है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5. सम्यक्श्रुत (Authentic Knowledge)

केवलज्ञान और केवलदर्शन युक्त अर्हत् भगवान् ने जो आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह अंग बताये हैं। उन अंगों (शास्त्रों) का ज्ञान सम्यक्श्रुत है तथा चौदह, तेरह, बारह, ग्यारह यावत् दसपूर्वधारी मुनियों द्वारा निर्मित शास्त्र भी सम्यक्श्रुत ही हैं। दस पूर्व से कम ज्ञान वालों का कथन सम्यक्श्रुत भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता। यदि वह अंग (शास्त्रों) से अविरुद्ध है तो सम्यक्श्रुत और विरुद्ध है, तो मिथ्याश्रुत है।

6. मिथ्याश्रुत (Spurious Knowledge)

अल्पबुद्धि वाले मिथ्यादृष्टियों द्वारा अपनी इच्छानुसार बुद्धि की कल्पना से रचे हुए ग्रंथ मिथ्याश्रुत हैं। जो ग्रंथ मोक्षमार्ग में बाधक हों वे मिथ्याश्रुत और जो मोक्षमार्ग के साधक हों वे सम्यक्श्रुत हैं।

7. सादिश्रुत (Knowledge Which has a Beginning)

जिस श्रुत की आदि हो वह सादिश्रुत है।

8. अनादिश्रुत (Knowledge, Which has no Beginning)

जिस श्रुत की आदि न हो वह अनादि श्रुत है।

9. सपर्यवसितश्रुत (Knowledge, Which hsa an End)

जिस श्रुत का अन्त हो उसे सपर्यवसितश्रुत कहते हैं।

10. अपर्यवसितश्रुत (Knowlewdge, Which has no End)

जिस श्रुत का अन्त न हो उसे अपर्यवसितश्रुत कहते हैं।

भगवान् द्वारा प्रज्ञप्त बारह अंगरूप श्रुतज्ञान पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से सादि एवं सपर्यवसित हैं तथा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अनादि और अपर्यवसित हैं। विशेष स्पष्टता के लिए सादि, अनादि, सपर्यवसित एवं अपर्यवसित इन चारों भेदों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से समझना चाहिए।

द्रव्य से —

एक व्यक्ति की अपेक्षा से सम्यक्श्रुत सादि और सपर्यवसित है क्योंकि अनादिकाल से कोई भी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होता। जिस दिन से जो व्यक्ति सम्यक्त्वी बनता है, उसी दिन से उसका ज्ञान सम्यक्श्रुत कहलाता है। अत: वह श्रुत आदिसहित है। एक बार सम्यक्त्व पाकर भी दर्शनमोह के उदय से व्यक्ति उसे खो बैठता है तब उसका सम्यक्श्रुत नष्ट हो जाता है, इस दृष्टि से सम्यक्श्रुत अन्तसहित है।

अनेक व्यक्तियों की अपेक्षा से सम्यक्श्रुत अनादि और अपर्यवसित है क्योंकि ऐसा समय न तो कभी था और न कभी होगा, जब संसार में कोई सम्यक्त्वधारी जीव न हो। सम्यक्त्वधारी जीव सदा थे, सदा हैं और सदा रहेंगे। जब सम्यक्त्वी जीव अनादि-अनन्त हैं तो उनके साथ सम्यक्श्रुत भी अनादि-अनन्त अपने आप सिद्ध हो जाता है।

क्षेत्र से —

पांच भरत और पांच ऐरावत — इन दस क्षेत्रों की अपेक्षा सम्यक्श्रुत सादि और सान्त है, क्योंकि इन क्षेत्रों में अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के अंत में और उत्सर्पिणी काल के तीसरे आरे के प्रारंभ में जब तीर्थंकर देव केवलज्ञान पाकर सर्वप्रथम श्रुत की प्ररूपणा और चार तीर्थ की स्थापना करते हैं। तभी से सम्यक्श्रुत की शुरूआत होती है, अत: वह सादि है तथा अवसिर्पणी के पांचवें आरे के अंत में और उत्सर्पिणी के चौथे आरे के प्रारंभ में धर्म, संघ और सम्यक्श्रुत का विच्छेद हो जाता है, उसकी अपेक्षा सम्यक्श्रुत सान्त है।

महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा सम्यक्श्रुत अनादि एवं अनन्त हैं क्योंकि वहां तीर्थंकरदेव हर समय विचरते ही रहते हैं।

काल से —

अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल की अपेक्षा से सम्यक्श्रुत सादि और सान्त है क्योंकि वह कभी शुरू होता है और फिर कभी नष्ट हो जाता है। अवस्थित काल अर्थात् सदा चौथे आरे के समान रहने वाले काल, जो महाविदेह क्षेत्र में है, उसकी अपेक्षा से सम्यक्श्रुत अनादि और अनन्त है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भाव से —

तीर्थंकरों द्वारा बताये गये व्रत-नियम आदि भावों की अपेक्षा से सम्यक्श्रुत सादि-सान्त है क्योंकि प्रत्येक तीर्थंकर अपने-अपने समय के अनुसार व्यवस्था करते हैं। जैसे — बाईस तीर्थंकरों के समय पंचरंग वस्त्र एवं चार महाव्रतों की व्यवस्था थी जबकि ऋषभ और महावीर के समय श्वेत वस्त्र एवं पांच महाव्रतों का विधान था। व्रतों की व्यवस्था का परिवर्तन होने से सम्यक्श्रुत का सादि-सान्त होना भी आवश्यक हो जाता है।

श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा से सम्यक्श्रुत अनादि-अनन्त है, प्रवाहरूप से क्षायोपशमिक भाव सदा शाश्वत ही है। भव्य जीवों की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि-सपर्यवसित है एवं अभव्य जीवों की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है।

11. गमिकश्रुत (Knowledeg, Which has Repeated Analogical Passages)

गम शब्द का अर्थ है — सदृश पाठ। जिन शास्त्रों में सदृश पाठ होते हैं, वे गमिक श्रुत कहलाते हैं। इसमें आदि, मध्य या अन्त में कुछ परिवर्तन के साथ शेष सारा पाठ एक जैसा होता है। जैसे कुछ वर्णन करके कह दिया जाता है **'सेसं तहेव भणियव्वं'** अर्थात् शेष उस पूर्वोक्त पाठ की तरह समझना चाहिए। गमिकश्रुत में मुख्यत: दृष्टिवाद अंग का ग्रहण किया गया है क्योंकि इसमें एक सरीखे पाठ अधिक हैं।

12. अगमिकश्रुत (Knowledge, Which does not have Repeated Anological Pasages)

जिन शास्त्रों में पाठ सरीखे नहीं होते वे अगमिक श्रुत कहलाते हैं। इसमें आचारांग आदि सूत्रों का ग्रहण किया जाता है।

13. अंगप्रवष्टिश्रुत (Knowledge, in Scriptural Composition of Ganadharas)

सर्वज्ञ भगवान् अर्थरूप उपदेश देते हैं। उस अर्थ को गणधर (उनके प्रमुख शिष्य) सूत्र रूप में गूंथते हैं, वे सुत्र अंगप्रविष्ट श्रुत कहलाते हैं। उनकी संख्या बारह मानी गई है — 1. आचारांग, 2. सूत्रकृतांग, 3. स्थानांग, 4. समवायांग, 5. भगवती, 6. ज्ञातधर्मकथांग, 7. उपासकदशांग, 8. अन्तकृद्दशांग, 9. अनुत्तरोपपातिकदशांग, 10. प्रश्नव्याकरण, 11. विपाक, 12. दृष्टिवाद।

14. अनंगप्रविष्टश्रुत (Knowledge, in Scriptural Composition by Authors other than Ganadharas)

भगवान् की वाणी के आधार पर विशिष्ट ज्ञानी आचार्य एवं स्थविर आदि जो कम से कम दस पूर्वधारी हों, वे जो ग्रंथ बनाते हैं, उन्हें अनंगप्रविष्टश्रुत कहते हैं।

श्रुतज्ञान को संक्षेप में इस चार्ट के माध्यम से समझ सकते हैं।

3.5 श्रुतज्ञान का विषय (Subject of Verbal Knowledge)

श्रुतज्ञान का विषय संक्षेप में चार प्रकार का बताया गया है — द्रव्यत:, क्षेत्रत:, कालत:, और भावत:।

1. द्रव्यत: — द्रव्य की दृष्टि से श्रुतज्ञानी सब द्रव्यों को जानता है।

2. क्षेत्रत: — क्षेत्र की दृष्टि से श्रुतज्ञानी सब क्षेत्रों को जानता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. कालत:— काल की दृष्टि से श्रुतज्ञानी सब कालों को जानता है।

4. भावत:— भाव की दृष्टि से श्रुतज्ञानी सब भावों को जानता है।

4.1 मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान की सहगामिता

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान का स्वरूप परस्पर इतना सम्मिश्रित है कि उन्हें अलग कर पाना कठिन है। नन्दीसूत्र में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को अन्योन्यानुगत माना है। जहां मति है वहां श्रुत है और जहां श्रुत है वहां मति अवश्यमेव है। अत: मति और श्रुत के भेद को समझने से पूर्व दोनों के अभेद को समझना भी आवश्यक है।

4.2 मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान का अभेद (Similarity in Matigyan & Shrut Gyan)

जैन दर्शन में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का सहभाव माना गया है। इन दोनों में कई अपेक्षाओं से अभिन्नता है।

1. पहली अभिन्नता स्वामी की अपेक्षा से है। मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान का स्वामी एक है। दोनों ज्ञान साथ-साथ ही होते हैं। नन्दीसूत्र में कहा भी है— **'जत्थ मइनाणं तत्थ सुयनाणं'**— जहां मतिज्ञान है वहां श्रुतज्ञान भी है।

2. दूसरी अभिन्नता स्थिति की अपेक्षा से है। दोनों ज्ञानों की स्थिति भी समान है। समस्त जीवों की अपेक्षा इनका उच्छेद कभी नहीं होता तथा एक जीव की अपेक्षा 66 सागर से कुछ अधिक कालमान इन दोनों का है।

3. तीसरी अभिन्नता विषय की दृष्टि से है। मति एवं श्रुतज्ञान दोनों का विषय परिमित पर्यायों से युक्त समस्त द्रव्य हैं।

4. चौथी अभिन्नता उत्पत्ति रूप कारण की दृष्टि से है। दोनों ही ज्ञान इन्द्रिय एवं मन के द्वारा होते हैं तथा स्वावरण अर्थात् मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम स्वरूप दोनों का कारण एक जैसा है।

5. परनिमित्त से होने के कारण ये दोनों ही परोक्ष ज्ञान हैं।

पांच ज्ञानों के क्रम में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों का प्रथम न्यास या प्रारंभ में कथन इसलिए किया गया है कि संसार का कोई भी प्राणी, अतीत में न ऐसा हुआ है, वर्तमान में न है और भविष्य में न ऐसा होगा जिसको मति, श्रुत से पहले ही अवधि आदि ज्ञान प्राप्त हो गये हों। इन दोनों ज्ञानों का सद्भाव होने पर ही अन्य ज्ञान हो सकते हैं। श्रुत से पूर्व मति का उल्लेख किया गया है इसका कारण यही है कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है। इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाला सारा ज्ञान मतिज्ञान ही है अत: उसका प्रारंभ में कथन किया गया है।

4.3 मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान का भेद (Difference in Matigyan and Shrutgyan)

आचार्य जिनभद्रगणी ने मति और श्रुत की भिन्नता को प्रकट करते हुए लिखा—

लक्खणभेआ हेऊफलभावओ भेयइन्दियविभागा।
वाग-क्खर-मुए-यरभेआ भेओ मइसुयाणं।।

इस गाथा में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की भेदरेखा को बताने वाले अनेक कारणों का उल्लेख हुआ है। यथा—

1. मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का लक्षण पृथक्-पृथक् है। इसलिए लक्षण की दृष्टि से दोनों अलग-अलग हैं।
2. मतिज्ञान हेतु (कारण) है तथा श्रुतज्ञान उसका फल (कार्य) है।
3. मतिज्ञान के 28 भेद हैं जबकि श्रुतज्ञान के 14 भेद हैं।
4. मति से स्वगत बोध होता है, इसलिए वह मूकतुल्य है, अपने लिए ही उपयोगी है। श्रुत स्व और पर का बोधक होता है, इसलिए वह अमूकतुल्य है। वचनात्मक होने से दूसरों के लिए भी उपयोगी है।
5. श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है पर मतिज्ञान श्रुतपूर्वक नहीं होता।
6. मतिज्ञान मननप्रधान होता है और श्रुतज्ञान शब्द प्रधान होता है।
7. मतिज्ञान का विषय केवल वर्तमान है, श्रुतज्ञान त्रैकालिक होता है।
8. मतिज्ञान छाल के समान है, क्योंकि वह श्रुतज्ञान का कारण है। श्रुतज्ञान रज्जु के समान है क्योंकि वह मतिज्ञान का कार्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.4 सारांश

इस प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में परस्पर भेद भी है।

4.5 अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान के स्वरूप का विश्लेषण करें।
2. मतिज्ञान को परिभाषित करते हुए उसके भेद-प्रभेदों का विवेचन करें।
3. श्रुतज्ञान किसे कहते हैं? विस्तार से समझाएँ।

लघूत्तरात्मक प्रश्न (टिप्पणी)

1. ज्ञान की सीमा
2. श्रुतनिश्रित मतिज्ञान
3. मतिज्ञान-श्रुतज्ञान में समानता और असमानता

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ज्ञान किसका स्वभाव है?
2. अवग्रह किसे कहते हैं?
3. व्यंजनावग्रह किसका नहीं होता?
4. अक्षरश्रुत किसे कहते हैं?
5. प्रत्यक्ष ज्ञान कौन-से हैं?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग–2 : अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान, केवलज्ञान
(Clairvoyance, Mind-reading, Perfect Knowledge)

संरचना

0.0 प्रस्तावना
1.0 उद्देश्य
1.1 अवधिज्ञान का लक्षण
1.2 अवधिज्ञान के भेद
  1.2.1 भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान
  1.2.2 क्षायोपशमिक अवधिज्ञान
1.3 अवधिज्ञान का विषय
2.1 मन:पर्यवज्ञान का लक्षण
2.2 मन:पर्यवज्ञान के भेद
  2.2.1 ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान
  2.2.2 विपुलमति मन:पर्यवज्ञान
2.3 ऋजुमति और विपुलमति मन:पर्यवज्ञान में अन्तर
2.4 मन:पर्यवज्ञान का अधिकारी
2.5 मन:पर्यवज्ञान का विषय
2.6 अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान में समानता
2.7 अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान में भेद
3.1 केवलज्ञान का लक्षण
3.2 केवलज्ञानी की विशेषताएँ
3.3 केवलज्ञान के भेद
  3.3.1 भवस्थ केवलज्ञान
  3.3.2 सिद्ध केवलज्ञान
3.4 केवलज्ञान का विषय
4.1 अज्ञान का लक्षण
4.2 ज्ञान–अज्ञान में अन्तर
4.3 अज्ञान के प्रकार
  4.3.1 मति अज्ञान
  4.3.2 श्रुत अज्ञान
  4.3.3 विभंग अज्ञान
5.1 दर्शन का लक्षण
5.2 दर्शन के प्रकार
  5.2.1 चक्षुदर्शन
  5.2.2 अचक्षुदर्शन
  5.2.3 अवधिदर्शन
  5.2.4 केवलदर्शन
5.3 सारांश
5.4 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

0.0 प्रस्तावना (Introduction)

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। आत्मा में अनन्त ज्ञान है। संसारी अवस्था में वह ज्ञान कर्मों से आवृत्त रहता है। जैसे-जैसे ज्ञान को आवृत्त करने वाले ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय या क्षयोपशम होता है वैसे-वैसे ज्ञान अनावृत्त होता जाता है। आवरण का पूर्ण नाश होने पर अनन्तज्ञान-केवलज्ञान प्रकट होता है।

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान के साधन तीन हैं — इन्द्रिय, मन और आत्मा। इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। आत्मा से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन से होते हैं अत: वे परोक्ष ज्ञान हैं, जिनका विवेचन पहली इकाई में किया गया है। इस इकाई में आत्मा से होने वाले अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान का विवेचन किया जा रहा है। अवधिज्ञान में आत्मा के द्वारा मूर्त्त द्रव्यों को जाना जाता है। मन:पर्यवज्ञान में मनुष्य के मन की भावनाओं को जाना जाता है तथा केवलज्ञान में मूर्त्त-अमूर्त्त समस्त द्रव्यों को आत्मा के द्वारा साक्षात् जाना जाता है।

1.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप —

* अतीन्द्रिय ज्ञान से परिचित हो सकेंगे।
* अवधिज्ञान और उसके भेद-प्रभेदों से परिचित हो सकेंगे।
* मन:पर्यवज्ञान जिसे विज्ञान की भाषा में टैलीपेथी कहा जाता है, उसका ज्ञान कर सकेंगे।
* मन:पर्यवज्ञान और अवधिज्ञान में पायी जाने वाली समानता और असमानता को जान सकेंगे।
* केवलज्ञान जो कि सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है, उसके स्वरूप को समझ पाएंगे।
* अज्ञान और दर्शन का भी संक्षिप्त ज्ञान कर सकेंगे।

अवधिज्ञान (Clairvoyance)

दर्शन का लक्ष्य है — सत्य की खोज करना। सत्य ज्ञेय है, उसको जानने का साधन ज्ञान है। जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। प्रत्येक आत्मा में अनन्त ज्ञान विद्यमान है। वह अपनी अनन्त ज्ञान शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थ को सर्वांगीण रूप से जानने में समर्थ है। संसारी अवस्था में आत्मा का अनन्तज्ञानमय स्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत्त रहता है अत: वह सम्पूर्ण पदार्थों को और उनकी सम्पूर्ण पर्यायों (अवस्थाओं) को जान नहीं सकता। कर्मों का जितना-जितना विलय होता है, उतना-उतना ज्ञान प्रकट होता जाता है। आप पढ़ चुके हैं कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की अवस्था में आत्मा पदार्थ से सीधा साक्षात्कार नहीं कर सकती। पदार्थ को जानने के लिए इन्द्रिय, मन आदि साधनों की आवश्यकता रहती है अत: मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्षज्ञान कहते हैं। जब आवरण सम्पूर्ण रूप से हट जाता है, तब आत्मा को, बाह्य पदार्थों को जानने में इन्द्रिय, मन आदि बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं रहती। आत्मा से सीधा ही ज्ञान कर लिया जाता है। आत्मा से सीधे होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है। प्रत्यक्षज्ञान के तीन भेद हैं —

1. अवधिज्ञान,
2. मन:पर्यवज्ञान,
3. केवलज्ञान।

केवलज्ञान सकल (पूर्ण) प्रत्यक्ष है और अवधिज्ञान तथा मन:पर्यवज्ञान विकल (अपूर्ण) प्रत्यक्ष हैं। अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान आत्मा से होते हैं अत: प्रत्यक्ष हैं किंतु अपूर्ण हैं अत: विकल प्रत्यक्ष हैं।

1.1 अवधिज्ञान का स्वरूप एवं लक्षण (Nature and Characteristic of Clairvoyance)

प्रत्यक्ष के तीन भेदों में 'अवधि' का पहला स्थान है। अवधिज्ञान को परिभाषित करते हुए जैन सिद्धान्त दीपिका में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

लिखा गया—**'आत्ममात्रापेक्षं रूपिद्रव्यगोचरमवधिः'**—जो ज्ञान आत्मा से सीधा (Direct) होता है और रूपी द्रव्यों को अपना विषय बनाता है, वह अविधज्ञान है। इस परिभाषा में दो बातें फलित होती हैं—

1. अवधिज्ञान आत्मा से होता है।

2. अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ हैं।

अवधि का शाब्दिक अर्थ है—मर्यादा, सीमा, अवधान आदि। जो मर्यादित द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि में रूपी द्रव्यों को जानता है, वह अवधिज्ञान है।

अवधि का एक नाम अवधान भी है। इस ज्ञान में तीव्र एकाग्रता की अपेक्षा रहती है। इस दृष्टि से ही इसका निरुक्त किया गया है—**'अवधानम् अवधिः'** अवधान अर्थात् एकाग्रता। ध्यान की गहराइयों में उतरे बिना अवधिज्ञान नहीं हो सकता।

आचार्य अकलंक ने अवधि शब्द 'अव' उपसर्गपूर्वक 'धा' धातु से निष्पन्न माना है। 'अव' उपसर्ग अधोवाचक है अतः जो ज्ञान अधोवर्ती अधिक होता है, वह अवधिज्ञान है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से जीव अपने से निम्नवर्ती पुद्गलों के विषय में अधिक जानता है, इसलिए इसका नाम अवधि है।

आचार्य जिनभद्रगणि ने अवधिज्ञान के संदर्भ में चार निर्वचन प्रस्तुत किए हैं—

1. जिसके द्वारा मर्यादापूर्वक ज्ञान किया जाता है, वह कारणभूत शक्ति अवधिज्ञान है।

2. जिसके होने पर मर्यादित ज्ञान होता है, वह क्षयोपशम अवधिज्ञान है।

3. जिसमें द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव आदि सीमाओं से युक्त ज्ञान होता है, वह अवधिज्ञान है।

4. अवधान ही अवधि है।

1.2 अवधिज्ञान के भेद (Types of Clairvoyance)

अवधिज्ञान क्षयोपशमजन्य ज्ञान है। क्षयोपशम अपूर्ण अवस्था है। क्षय पूर्ण अवस्था है। कर्मों के पूर्ण क्षय होने पर जो अवस्था बनती है, वह क्षायिक अवस्था है तथा उदय में आये हुए कर्मों का क्षय तथा उदय में न आये हुए किंतु आने वाले कर्मों का उपशम करने से जो अवस्था बनती है वह क्षायोपशमिक अवस्था है। क्षायिक भाव प्राप्त होने पर कर्मों के कारण होने वाली विविधता समाप्त हो जाती है किंतु जब तक क्षयोपशम भाव है तब तक ज्ञान में विविधता या तरतमता बनी रहती है। एक अवधिज्ञानी का क्षयोपशम इतना अल्पतम होता है कि वह अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्र को जान एवं देख पाता है तो एक अवधिज्ञानी सम्पूर्ण पृथ्वी पर होने वाली घटनाओं को प्रत्यक्ष जानने की क्षमता भी रखता है। जिस प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के अनेक प्रकार हो सकते हैं उसी प्रकार अवधिज्ञान के भी अनेक प्रकार हो सकते हैं।

संक्षेप में अवधिज्ञान के दो प्रकार हैं—

1. भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान।

2. क्षायोपशमिक अवधिज्ञान।

1.2.1 भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान (Inherent Chairvoyance)

जिस अवधिज्ञान के क्षयोपशम में भव (जन्म) निमित्त बनता है, वह भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कहलाता है। देवगति और नरकगति में पैदा होने वाले प्राणियों को यह ज्ञान जन्म से ही प्राप्त होता है। उन्हें भी यह ज्ञान क्षयोपशम से ही प्राप्त होता है पर उस क्षयोपशम के लिए उन्हें कोई प्रयत्न या पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। नरक और देव भव में उत्पन्न होने मात्र से ही उनका वैसा क्षयोपशम हो जाता है। जैसे पक्षी के रूप में जन्म लेने वाले प्राणी में उड़ने की क्षमता जन्मजात होती है, उन्हें उड़ना सीखने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। मछली में तैरने की क्षमता जन्मजात होती है, उसे तैरना सीखने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता क्योंकि इस भव में जन्म लेने मात्र से उनमें यह क्षमता जन्मजात ही आ जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उसी प्रकार देव और नारक के भव में जन्म लेने वाले प्राणी में यह अवधिज्ञान जन्मजात ही प्राप्त हो जाता है। इसके लिए उन्हें कोई अतिरिक्त पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। अत: जन्मना होने वाला अवधिज्ञान भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कहलाता है। जन्मजात होने पर भी हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान का आंतरिक कारण या मूल कारण तो क्षयोपशम ही है लेकिन उस क्षयोपशम के लिए उन्हें अलग से कोई पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। देव और नारक के भव में जन्म लेना ही उनके क्षयोपशम में निमित्त बन जाता है यदि क्षयोपशम को मूल कारण नहीं माना जाये तो फिर सभी देवताओं और नारकों में अवधिज्ञान का समान विकास होना चाहिए पर ऐसा नहीं होता। उनके ज्ञान में न्यूनाधिकता देखी जाती है। किसी का ज्ञान कम होता है, किसी का ज्यादा। इस न्यूनाधिकता का मूल कारण क्षयोपशम ही है। जिसका क्षयोपशम कम होता है, उसका अवधिज्ञान कम होता है और जिसका क्षयोपशम ज्यादा होता है उसका ज्ञान अधिक होता है।

1.2.2 क्षायोपशमिक अवधिज्ञान (Destruction-Cum-Subsidential Clairvoyance Karmas)

अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो अवधिज्ञान प्राप्त होता है, वह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहलाता है। यह मनुष्यगति और तिर्यंचगति में होता है। यह अवधिज्ञान जन्मजात नहीं होता। जो सम्यक्दृष्टि जीव अणुव्रत, महाव्रत आदि गुणों की उत्कृष्ट आराधना करता है, उस आराधना से उसके अवधिज्ञानावरण कर्म का विलय होता है और उससे जो ज्ञान प्राप्त होता है वह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहलाता है। अत: यह जन्मजात नहीं होता अपितु पुरुषार्थ सापेक्ष होता है। दिगम्बर साहित्य में इसे गुणप्रत्ययिक अथवा गुणहेतुक अवधिज्ञान भी कहा गया है। नंदीसूत्र में क्षायोपशमिक अवधिज्ञान को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि उदय में आये हुए अवधिज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय तथा जो अभी उदय में नहीं आये हैं, उन कर्मों के उपशम से क्षायोपशमिक अवधिज्ञान उत्पन्न होता है।

भवप्रत्ययिक और क्षायोपशमिक इन दोनों ज्ञानों में अन्तर इतना ही है कि एक जन्मजात होता है और दूसरा प्रयत्न या पुरुषार्थ से होता है। यहां एक बात हमें याद रखनी चाहिए कि जो जीव उसी जन्म में तीर्थंकर बनने वाला होता है। उसे अवधिज्ञान जन्मजात ही होता है। यद्यपि तीर्थंकर मनुष्य होते हैं और मनुष्यों को होने वाला अवधिज्ञान पुरुषार्थसापेक्ष होता है। जन्मजात नहीं फिर भी तीर्थंकर इस विषय में अपवाद होते हैं क्योंकि वे जन्म से ही तीन ज्ञान (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान) लेकर उत्पन्न होते हैं। क्षायोपशमिक अवधिज्ञान के छ: प्रकार हैं—

1. अनुगामी अवधिज्ञान,
2. अननुगामी अवधिज्ञान,
3. वर्धमान अवधिज्ञान,
4. हीयमान अवधिज्ञान,
5. प्रतिपाति अवधिज्ञान,
6. अप्रतिपाति अवधिज्ञान।

1. अनुगामी अवधिज्ञान (Accompanying Clairvoyance)

अनुगामी में दो शब्द हैं — अनु+गामी। 'अनु' का अर्थ है — पीछे-पीछे और 'गामी' का अर्थ है गमन करने वाला। जो अवधिज्ञान एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में अथवा एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते समय अपने स्वामी का अनुगमन करता है, वह अनुगामी अवधिज्ञान कहलाता है। अनुगामी अवधिज्ञान प्राप्त व्यक्ति जिस स्थान पर अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है, उस स्थान को छोड़कर जब दूसरे स्थान पर जाता है तो उसका अवधिज्ञान उसके साथ-साथ जाता है। जिस प्रकार व्यक्ति की आत्मा सदैव उसके साथ-साथ ही रहती है उसी प्रकार अनुगामी अवधिज्ञान भी अवधिज्ञान प्राप्त व्यक्ति के साथ-साथ चलता है। क्षमाश्रमण जिनभद्रगणी ने इसे नेत्र के दृष्टान्त से समझाया है। जैसे मनुष्य जिस किसी भी क्षेत्र में जाता है, उसके नेत्र उसके साथ ही जाते हैं, उसी प्रकार अनुगामी अवधिज्ञान भी हर क्षेत्र में साथ रहता है।

अनुगामी अवधिज्ञान के 'धवला' में तीन प्रकार किये गये हैं—

1. क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान,
2. भवानुगामी अवधिज्ञान,
3. क्षेत्रभवानुगामी अवधिज्ञान।

1. क्षेत्रानुगामी — एक स्थान से दूसरे स्थान पर साथ-साथ जाने वाला अवधिज्ञान क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान है।

2. भवानुगामी — एक भव (जन्म) से दूसरे भव में साथ-साथ जाने वाला अवधिज्ञान भवानुगामी अवधिज्ञान है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. क्षेत्रभवानुगामी — यह पहले और दूसरे का संयोगजनित विकल्प है। जो एक स्थान से दूसरे स्थान तथा एक भव से दूसरे भव में साथ-साथ जाता है, वह क्षेत्रभवानुगामी है।

नंदीसूत्र में अनुगामी अवधिज्ञान के दो भेद किये गये हैं —

1. अन्तगत अवधिज्ञान,

2. मध्यगत अवधिज्ञान।

अवधिज्ञान के ये भेद ज्ञाता शरीर के जिस आत्मप्रदेश (भाग) से ज्ञान के द्वारा देखता है, उसके आधार पर किये गये हैं।

1. अन्तगत अवधिज्ञान (Clairvoyance pertaining to a part of the body)

शरीर के एक पार्श्व से एक दिशा की वस्तुओं को जानने वाला ज्ञान अन्तगत अवधिज्ञान है। इसके भी तीन भेद हैं —

1. पुरत: अन्तगत, 2. मार्गत: अन्तगत, 3. पार्श्वत: अन्तगत,

1. पुरत: अन्तगत (Clairvoyance gained from the front side of the body)

पुरत:-सामने की ओर से होने वाला ज्ञान। जो अवधिज्ञान अपने सामने की दिशा में स्थित ज्ञेय पदार्थों को इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा से सीधा जान लेता है, वह पुरत: अन्तगत अवधिज्ञान कहलाता है। इसमें पीछे या दायें-बायें दिशा में स्थित ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान नहीं होता केवल सामने की दिशा में स्थित पदार्थों का ज्ञान होता है। इसे समझाने के लिए चक्षुइन्द्रिय का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा व्यक्ति सामने स्थित पदार्थ को जानता है, पीछे या पार्श्व में स्थित पदार्थों को नही जानता। उसी प्रकार इस अवधिज्ञान में केवल पुरत: अर्थात् सामने स्थित पदार्थों का ज्ञान होता है।

2. मार्गत: अन्तगत (Clairvoyance gained from the back side of the body)

मार्गत:-पीछे की ओर से होने वाला ज्ञान। जो अवधिज्ञान अपने सामने की दिशा में स्थित ज्ञेय पदार्थों को नहीं जानता अपितु अपने पीछे अर्थात् पीठ की ओर स्थित ज्ञेय पदार्थों को इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा से सीधा (Direct) जानता है, वह मार्गत: अन्तगत अवधिज्ञान कहलाता है। इसे समझाने के लिए स्पर्शन इन्द्रिय का दृष्टान्त दिया जाता है। जिस प्रकार पीठ की त्वचा से पीठ में होने वाले स्पर्श का अनुभव होता है उसी प्रकार इस अवधिज्ञान में सामने की ओर स्थित पदार्थों को न जानकर पीछे की ओर स्थित पदार्थों का ज्ञान होता है।

3. पार्श्वत: अन्तगत (Clairvoyance gained from the right and left side of the body)

पार्श्वत:-दायीं-बायीं ओर से होने वाला ज्ञान। जो अवधिज्ञान अपने सामने की दिशा में स्थित या पीछे की दिशा में स्थित ज्ञेय पदार्थों को नहीं जानता अपितु दायें और बायें पार्श्व में स्थित ज्ञेय पदार्थों को इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा से सीधा जानता है, वह पार्श्वत: अवधिज्ञान कहलाता है। इसे समझाने के लिए श्रोत्रेन्द्रिय का दृष्टान्त दिया जाता है, जैसे — श्रोत्र (कान) दायें और बायें स्थित होते हैं उसी प्रकार यह दायें और बायें पार्श्व में स्थित पदार्थों को जानता है। इसमें एक पार्श्व के पदार्थों को भी जाना जा सकता है और दोनों पार्श्व के पदार्थों को भी जाना जा सकता है।

2. मध्यगत अवधिज्ञान (Clairvoyance pertaining to the middle part of the body)

जिस ज्ञान के द्वारा अवधिज्ञानी व्यक्ति अपने आगे-पीछे, दायें-बायें सब ओर के पदार्थों को साक्षात् जान लेता है वह अवधिज्ञान मध्यगत अवधिज्ञान कहलाता है। इसमें चारों ओर का ज्ञान किस प्रकार होता है उसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। जिस प्रकार कोई पुरुष अपने मस्तक पर मणि, दीपक या कोई भी प्रकाश का साधन लेकर चलता है तो उसका प्रकाश आगे-पीछे, दायें-बायें सब ओर पड़ता है। इसलिए सब ओर की वस्तुएं उस प्रकाश में प्रकाशित हो जाती हैं। उसी प्रकार मध्यगत अवधिज्ञान के द्वारा व्यक्ति सब दिशाओं में स्थित पदार्थों को इन्द्रिय और मन के बिना आत्मा के द्वारा साक्षात् जान लेता है।

अन्तगत और मध्यगत अवधिज्ञान में अन्तर केवल इतना ही है कि अन्तगत अवधिज्ञानी किसी एक दिशा में स्थित पदार्थों का ज्ञान करता है और मध्यगत अवधिज्ञानी सब दिशाओं में स्थित वस्तुओं का ज्ञान कर सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. अननुगामी अवधिज्ञान (Non accompanying clairvoyance)

जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में उत्पन्न होता है, उस क्षेत्र को छोड़कर अन्यत्र जाने पर साथ-साथ नहीं जाता, वह अननुगामी अवधिज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान जिस स्थान पर उत्पन्न होता है, उस स्थान पर स्थित होकर ही व्यक्ति आत्मा से साक्षात् ज्ञान कर सकता है पर उस स्थान को छोड़ देने पर वह ज्ञान उसका अनुगमन नहीं करता, अत: अन्यत्र जाने पर वह पदार्थ का साक्षात् ज्ञान नहीं कर सकता। नन्दीसूत्र में इसे एक दृष्टान्त से समझाया गया है। जिस प्रकार कोई एक पुरुष ज्योतिकुण्ड बनाता है। जिसमें अग्नि जल रही हो तो वह उस ज्योति के प्रकाश में उस ज्योतिकुण्ड के चारों ओर स्थित पदार्थों को जान सकता है, देख सकता है। पर जब वह उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र चला जाता है तो वहां प्रकाश का अभाव हो जाने पर वह जान और देख नहीं पाता, उसी प्रकार अननुगामी अवधिज्ञान में व्यक्ति जहां ज्ञान उत्पन्न हुआ है उस स्थान पर स्थित होकर संख्यात-असंख्यात योजन क्षेत्र में विद्यमान पदार्थों को साक्षात् देख सकता है, जान सकता है। किंतु उस क्षेत्र को छोड़कर अन्य क्षेत्र में चले जाने पर उसकी वह अतीन्द्रिय क्षमता समाप्त हो जाती है। वह सामान्य पुरुष के समान हो जाता है अत: उस ज्ञान के अभाव में वह दूर स्थित पदार्थों को उस रूप में साक्षात् नहीं जान सकता।

3. वर्धमान अवधिज्ञान (Expanding Clairvoyance)

जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के समय जितने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देखने की क्षमता रखता है, धीरे-धीरे उस विषय-सीमा में वृद्धि करता है, वह वर्धमान अवधिज्ञान कहलाता है। अर्थात् जो अवधिज्ञान प्राप्ति के बाद निरन्तर बढ़ता रहता है वह वर्धमान अवधिज्ञान है। इस अवधिज्ञान को शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा से उपमित किया जा सकता है। जिस प्रकार शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा प्रारम्भ में एक पतली-सी लाईन के बराबर होता है, फिर क्रमश: बढ़ता-बढ़ता पूर्णिमा को पूर्णता प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार यह अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय बहुत कम जानता है पर धीरे-धीरे उसमें वृद्धि होती रहती है। तत्त्वार्थभाष्य में इसे अग्नि के दृष्टान्त से समझाया गया है। जिस प्रकार अग्नि में निरन्तर सूखा ईंधन डालने पर उस अग्नि में वृद्धि होती रहती है। उसी प्रकार यह अवधिज्ञान भी सतत बढ़ता रहता है।

वर्धमान अवधिज्ञान के मुख्य दो हेतु बनते हैं—

1. अध्यवसायों की पवित्रता।

2. चारित्रिक विशुद्धि।

धवला के अनुसार वर्धमान अवधिज्ञान बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व क्षण तक चला जाता है।

4. हीयमान अवधिज्ञान (Contracting Clairvoyance)

जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद निरन्तर घटता जाता है और एक समय ऐसा आता है कि वह समाप्त हो जाता है, उसे हीयमान अवधिज्ञान कहते हैं। हीयमान अवधिज्ञान को कृष्णपक्ष के चन्द्रमा से उपमित किया जाता है। जिस प्रकार कृष्णपक्ष का चन्द्रमा क्रमश: घटते-घटते अमावस्या को पूर्णत: समाप्त हो जाता है उसी प्रकार यह अवधिज्ञान भी घटते-घटते पूर्णत: समाप्त हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि में ईंधन न डाला जाये तो वह धीरे-धीरे घटते-घटते पूरा ही बुझ जाता है उसी प्रकार यह अवधिज्ञान भी कम होते-होते पूरा समाप्त हो जाता है।

जिन विशुद्ध परिणामों के फलस्वरूप अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई थी, वे परिणाम यदि उतने पवित्र नहीं रहते, परिणामधारा संक्लिष्ट होने लगती है तो यह अवधिज्ञान भी घटता जाता है। इसीलिए देववाचक ने हीयमान अवधिज्ञान के मुख्यत: दो हेतु बताए हैं—

1. अप्रशस्त अध्यवसाय स्थान—कृष्ण आदि अप्रशस्त लेश्याओं से उपरंजित चित्त अप्रशस्त अध्यवसाय स्थान कहलाता है। यही अप्रशस्तता अवधिज्ञान के ह्रास का कारण बनती है।

2. संक्लिश्यमान चरित्र—अशुभ चिंतन में तल्लीन चित्त चारित्रिक ह्रास का कारण बनता है। अशुभ चिंतन, अशुभ पुद्गलों को आकृष्ट करता है और उन अशुभ कर्म पुद्गलों के संसर्ग से संक्लेश बढ़ता है। सम्यग्दर्शन आदि गुणों की हानि एवं संक्लिष्ट परिणामों की वृद्धि के कारण यह निरन्तर घटता चला जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5. प्रतिपाति अवधिज्ञान (Falling Clairvoyance)

जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद पुन: पतन (नाश) को प्राप्त हो जाता है, वह प्रतिपाति अवधिज्ञान कहलाता है। हीयमान अवधिज्ञान भी पतन को प्राप्त करता है परन्तु हीयमान और प्रतिपाति अवधिज्ञान में मूल अन्तर यह है कि हीयमान अवधिज्ञान का नाश एक साथ नहीं होता। क्रमश: धीरे- धीरे होता है जबकि प्रतिपाति अवधिज्ञान एक साथ विनष्ट हो जाता है। प्रतिपाति अवधिज्ञान को विद्युत के प्रकाश के समान विनाशी बताया गया है। जिस प्रकार विद्युत का प्रकाश एक साथ विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार प्रतिपाति अवधिज्ञान भी एक साथ विनष्ट हो जाता है।

6. अप्रतिपाति अवधिज्ञान (Non-falling Clairvoyance)

जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद विनष्ट नहीं होता, वह अप्रतिपाति अवधिज्ञान कहलाता है। जो अवधिज्ञान अलोकाकाश के एक आकाश प्रदेश को अथवा उससे आगे देखने की क्षमता रखता है, वह अप्रतिपाति अवधिज्ञान है। यह अवधिज्ञान केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर ही नष्ट होता है, अन्यथा नहीं। जिसे अप्रतिपाति अवधिज्ञान प्राप्त हो गया उसे निश्चित ही उभी भव में केवलज्ञान प्राप्त होगा। इस अवधिज्ञान को समझाने के लिए जात्यमणि का दृष्टान्त दिया जाता है। जिस प्रकार जात्यमणि को क्षार, मृतपुटपाक आदि विशिष्ट क्रियाओं से इतना अधिक निर्मल बना दिया जाता है कि पुन: उस पर मलिनता आ ही नहीं सकती, उसी प्रकार यह अवधिज्ञान भी एक बार प्राप्त होने के बाद पुन: विनष्ट नहीं हो सकता।

1.3 अवधिज्ञान का विषय (Subject of Clairvoyance)

अवधिज्ञान सावधिक ज्ञान है। वह केवलज्ञान के समान अनन्त, असीम नहीं है अत: आत्मा, आकाश, काल आदि अमूर्त्त पदार्थ उसकी विषय सीमा में नहीं हैं। अवधिज्ञान का विषय केवल मूर्त्त पदार्थ ही बनते हैं। इसकी विषय-मर्यादा का निरूपण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दृष्टियों से किया जा सकता है

1. द्रव्य की अपेक्षा —

जघन्य — अनन्त मूर्त्त द्रव्य।

उत्कृष्ट — समस्त मूर्त्त द्रव्य।

2. क्षेत्र की अपेक्षा —

जघन्य — कम से कम अंगुल का असंख्यातवां भाग।

उत्कृष्ट — अधिक से अधिक असंख्य क्षेत्र (लोकाकाश) तथा शक्ति की कल्पना करें तो लोकाकाश जैसे असंख्य खण्ड इसके विषय बन सकते हैं।

3. काल की अपेक्षा —

जघन्य — एक अवलिका का असंख्यातवां भाग।

उत्कृष्ट — असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी जितना काल।

4. भाव (पर्याय) की अपेक्षा —

जघन्य — अनन्त भाव (पर्याय)।

उत्कृष्ट — अनन्त भाव-सब पर्यायों का अनन्त भाग।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अवधिज्ञान को संक्षेप में इस चार्ट के माध्यम से समझ सकते हैं —

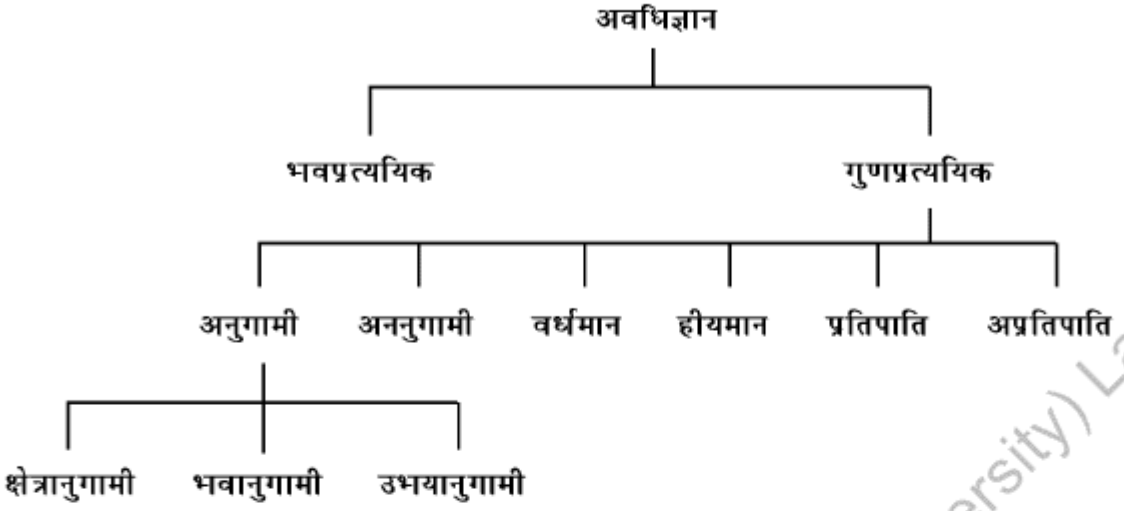

बोध प्रश्न

प्रश्न–1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. अवधिज्ञान किसे कहते हैं? उसके भेद-प्रभेदों का विवेचन करें?

प्रश्न–2. लघूत्तरात्मक प्रश्न (टिप्पणी)

1. भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान
2. अन्तगत अवधिज्ञान

प्रश्न–3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अवधिज्ञान किसे कहते हैं?
2. जन्मजात होने वाले अवधिज्ञान को क्या कहते हैं?
3. मध्यगत अवधिज्ञान से क्या तात्पर्य है?
4. अवधिज्ञान के हीयमान होने का क्या कारण है?
5. भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान किसमें होता है?

मन:पर्यवज्ञान (Mind-reading Knowledge)

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के तीन भेदों में मन:पर्यवज्ञान का दूसरा स्थान है। जैन दर्शन के अनुसार जब कोई विशिष्ट योगी अपनी आधना के द्वारा दूसरों के मनोगत भावों को साक्षात् जान लेने की क्षमता का विकास कर लेता है तो उसका वह ज्ञान मन:पर्यवज्ञान कहलाता है। जब भी कोई व्यक्ति चिंतन-मनन की मानसिक क्रिया करता है तो उस समय वह एक विशेष प्रकार के पुद्गलों को ग्रहण करता है जिन्हें जैन दर्शन में मनोवर्गणा के पुद्गल कहते हैं। मनोवर्गणा का तात्पर्य है — मन के रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्गलों का समूह। मन:पयर्वज्ञानी उन मनोवर्गणा के पुद्गलों के आधार पर सामने वाले व्यक्ति के मन की भावनाओं को इन्द्रिय, मन आदि का सहायता के बिना आत्मा से साक्षात् जान लेता है। उसका यह ज्ञान मन:पर्यवज्ञान कहलाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.1 मन:पर्यवज्ञान की परिभाषा (Definition of Mind-reading Knowledge)

जैन सिद्धान्त दीपिका में मन:पर्यवज्ञान को परिभाषित करते हुए लिखा गया — **'मनोद्रव्यपर्यायप्रकाशी मन:पर्याय:'** — मनोवर्गणा के अनुसार मानसिक अवस्थाओं का जो ज्ञान होता है उसे मन:पर्यवज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान की प्राप्ति होने पर व्यक्ति दूसरों के मनोगत भावों को जान लेने में सफल होता है। यह अतीन्द्रिय ज्ञान है।

मन:पर्यव एक सामासिक पद है। जिसका अर्थ है मन से होने वाला सर्वतोमुखी ज्ञान। मन:पर्यवज्ञान चेतना का वह व्यापार है जो प्राणियों के मन में परिचिन्तित अर्थ को प्रकाशित करता है, प्रकट करने में समर्थ होता है। उसका विषयक्षेत्र केवल मनुष्य क्षेत्र है। जैन दर्शन के अनुसार यह लोक तीन भागों में विभक्त है — ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक। तीनों ही लोकों में समनस्क (मन से युक्त) प्राणी रहते हैं परन्तु मन:पर्यवज्ञानी केवल मनुष्यक्षेत्र में रहने वाले प्राणियों के मन की बात जानता है। ढाई द्वीप तक का क्षेत्र ही मनुष्य क्षेत्र कहलाता है। जम्बुद्वीप, धातकीखण्ड और अर्धपुष्कर ये अढ़ाई द्वीप हैं। मन:पर्यवज्ञानी अपने ज्ञान के द्वारा केवल इन ढाई द्वीपों में रहने वाले संज्ञी प्राणियों के मन को ही जान सकता है, शेष प्राणियों के मन को नहीं। मन:पर्यवज्ञान अवधिज्ञान के समान भवप्रत्ययिक अर्थात् जन्मजात नहीं होता, अर्जित होता है। इसकी उत्पत्ति के लिए व्रतचेतना या संकल्पशक्ति का पूर्ण विकास अपेक्षित है।

2.2 मन:पर्यवज्ञान के भेद (Types of Mind-reading)

मन:पर्यवज्ञान के दो प्रकार बतलाये गये हैं —

1. ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान,
2. विपुलमति मन:पर्यवज्ञान।

मन:पर्यवज्ञान के ये दोनों भेद श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में मान्य है।

2.2.1 ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान (Straight or Plain Mind-reading)

ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान दूसरों के मनोगत भावों को सामान्य रूप से जानता है। यहां सामान्य का अर्थ केवल सत्तामात्र के ग्रहण से नहीं है अपितु सामान्य का अर्थ कम पर्यायों से युक्त ज्ञान से है। उदाहरण के लिए जैसे कोई व्यक्ति घट के बारे में चिंतन कर रहा है तो ऋजुमति मन:पर्यवज्ञानी यह तो जान लेता है कि अमुक व्यक्ति घट का चिंतन कर रहा है पर वह यह नहीं जान पाता है कि इस व्यक्ति के द्वारा चिंतित घट का आकार कितना बड़ा है, यह किस द्रव्य से बना हुआ है, मिट्टी से बना हुआ है या सोने से बना हुआ है। यह घट किस काल में बना हुआ है, सर्दी में बना हुआ है या गर्मी में बना हुआ है या फिर इसमें और क्या-क्या विशेषताएं हैं। इन सब बातों का या पर्यायों का इसमें ज्ञान न होने के कारण ऋजुमति दूसरों के मनोगत भावों को सामान्य रूप से जानता है, ऐसा कहा गया है।

ऋजु का एक अर्थ किया गया है — व्यक्त। व्यक्त मन का ज्ञान ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित मन व्यक्त मन कहलाता है। ऋजुमति चिंतित अर्थ को ही जानता है। अचिंतित या अर्धचिंतित पदार्थ अव्यक्त होने से उसके विषय नहीं बनते हैं।

2.2.2 विपुलमति मन:पर्यवज्ञान (Expansive Mind-reading)

विपुलमति मन:पर्यवज्ञान दूसरों के मनोगत भावों को विशेष रूप से जानता है, जैसे किसी व्यक्ति ने घट के बारे में चिंतन किया तो विपुलमति मन:पर्यवज्ञान केवल घटमात्र को नहीं जानेगा अपितु उसके देश-काल आदि अनेक पर्यायों को भी जान लेगा। यह दूसरों के द्वारा ग्रहण किये हुए मनोद्रव्य के आधार पर जान लेता है कि इस व्यक्ति ने जिस घट का चिंतन किया है वह सोने से बना हुआ है, राजस्थान में बना हुआ है, गर्मी में बना हुआ है आदि-आदि। इस प्रकार यह ज्ञान ऋजुमति की अपेक्षा विशेषग्राही होता है।

विपुलमति मन:पर्यवज्ञान अव्यक्त मन की पर्याय को भी जान लेता है। अव्यक्त मन का अभिप्राय है — चिंतन में अर्धपरिणत, चिंतित वस्तु के स्मरण से रहित और चिंतन में अव्यापृत (न लगा हुआ) मन। इस प्रकार विपुलमति का क्षयोपशम इतना विशिष्ट होता है कि यह अचिंतित या अर्धचिंतित मनोभावों को भी जान लेता है तथा अतीत में किये गये विचार को, भविष्य में किये जाने वाले विचार को तथा वर्तमान में किये जा रहे विचार को, सबको अपना विषय बनाता है। अत: यह त्रिकालगत रूपी पदार्थ को जानता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.3 ऋजुमति और विपुलमति मन:पर्यवज्ञान में अन्तर (Difference between Straight and Expansive)

ऋजुमति और विपुलमति मन:पर्यवज्ञान में निम्नलिखित अन्तर हैं—

1. ऋजुमति केवल व्यक्त मन को ही जानता है जबकि विपुलमति अव्यक्त मन को भी जानने की क्षमता रखता है।

2. ऋजुमति केवल वर्तमान को ही अपना विषय बनाता है जबकि विपुलमति के द्वारा तीनों काल जाने जाते हैं।

3. ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से अधिक विशुद्धतर है।

4. कषायोदय के कारण ऋजुमति ज्ञान का प्रतिपात (नाश) संभव है, जबकि विपुलमति का प्रतिपात नहीं होता। वह अन्तत: केवलज्ञान में परिणत हो जाता है।

नंदीसूत्र में ऋजुमति और विपुलमति का अन्तर बताते हुए चार हेतु प्रस्तुत किये गये हैं।

1. अभ्यधिकतरता,
2. विपुलतरता,
3. विशुद्धतरता,
4. वितिमिरतरता,

1. अभ्यधिकतरता (Greater capacity for knowing)

अभ्यधिकतरता का तात्पर्य है—एक दिशा (दृष्टि) से बड़ा होना। जैसे एक बड़ा घड़ा छोटे घड़े की अपेक्षा जल धारण की दृष्टि से अभ्यधिक होता है वैसे ही ऋजुमति का जो ज्ञातव्य (जानने योग्य) क्षेत्र होता है, उस क्षेत्र की अपेक्षा विपुलमति का ज्ञातव्य क्षेत्र अधिक होता है।

2. विपुलतरता (Complexity)

विपलुतरता का तात्पर्य है कि सब दृष्टि से या सब तरह से बड़ा होना। जिस प्रकार बड़ा घड़ा स्थान की अपेक्षा छोटे घड़े की अपेक्षा विशाल होता है उसी प्रकार ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति का विषयक्षेत्र विशाल होता है।

3. विशुद्धतरता (Refinedness)

विशुद्धतरता का तात्पर्य है—स्पष्टता से ज्ञान होना। जिस प्रकार दीपक, ट्यूबलाइट, बल्ब, सूर्य आदि प्रकाश करने वाले पदार्थों में जो सबसे ज्यादा प्रकाश करने वाले पदार्थ हैं उसके प्रकाश में वस्तु अधिक स्पष्ट रूप से प्रकाशित होती है, जैसे—दीपक के प्रकाश की अपेक्षा सूर्य के प्रकाश में वस्तुएं अधिक स्पष्ट रूप से प्रकाशित होती हैं, उसी प्रकार ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति की ज्ञान क्षमता विशुद्धतर होती है।

4. वितिमिरतरता (Absence of obscuring objects)

वितिमिरतरता का तात्पर्य है—आवरण का अभाव हो जाना। जब बार-बार आवरण आता है तो प्रकाशयुक्त क्षेत्र भी अंधकारमय बन जाता है और उससे वस्तु को स्पष्ट रूप से नहीं जाना जा सकता। विपुलमति मन:पर्यवज्ञानी का चारित्र इतना विशुद्ध हो जाता है कि उसके पुन: मन:पर्यवज्ञानावरण का बंधन नहीं होता। अत: यह ज्ञान ऋजुमति की अपेक्षा वितिमिरतर (अंधकार रहित) है।

2.4 मन:पर्यवज्ञान का अधिकारी (The person worthy of having Mind-reading)

मन:पर्यवज्ञान विशिष्ट अतीन्द्रिय ज्ञान है, अत: इसका अधिकारी भी कोई विशिष्ट योगी ही होता है। सब प्राणियों में इसको प्राप्त करने की योग्यता नहीं होती। मन:पर्यवज्ञान का अधिकारी कौन हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा—चारों गतियों में से केवल मनुष्यगति में ही मन:पर्यवज्ञान हो सकता है। नारक, देव और तिर्यंच गति में नहीं हो सकता। मनुष्य गति में भी सब मनुष्यों को नहीं होता, केवल संज्ञी (मनसहित) प्राणियों को ही होता है। संज्ञी में भी सब संज्ञी प्राणियों को नहीं होता, सम्यग्दृष्टि जीव को होता है। सम्यग्दृष्टि में भी सब सम्यग्दृष्टि जीवों को नहीं होता, संयमी अर्थात् साधु को होता है। साधु में भी जो अप्रमत्त और ऋद्धिसम्पन्न होते हैं वही मन:पर्यवज्ञान के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अधिकारी बनते हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि जो उसी भव (जन्म) में तीर्थंकर बनने वाला होता है वह जीव जन्म से तीन ज्ञान साथ लेकर आता है किंतु यह चौथा मन:पर्यवज्ञान उन्हें साधु बनते समय, संयम स्वीकार करते समय प्राप्त होता है। अत: मन:पर्यवज्ञान का अधिकारी मनुष्य और मनुष्य में भी साधु होता है।

2.5 मन:पर्यवज्ञान का विषय (Subject of Mind-reading)

मन:पर्यवज्ञान अप्रमत्त साधु को होने वाला विशिष्ट ज्ञान है। यह क्षायोपशमिक ज्ञान है अत: इसकी अपनी कुछ मर्यादाएं हैं। अरूपी द्रव्य इसके विषय नहीं बनते क्योंकि यह द्रव्यमन की पर्यायों का साक्षात्कार करता है, जो रूपी ही होती हैं। मन:पर्यवज्ञान अवधिज्ञान की तुलना में सीमित रूपी द्रव्यों (मनोद्रव्य मात्र) को जानता है। मन:पर्यवज्ञान की विषय मर्यादा का द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव इन चार दृष्टियों से विवेचन उपलब्ध होता है—

1. द्रव्य की अपेक्षा — मन रूप में परिणत पुद्गल द्रव्य को जानता है।
2. क्षेत्र की अपेक्षा — मनुष्य क्षेत्र में जानता है।
3. काल की अपेक्षा — असंख्य काल तक का अतीत और भविष्य जानता है।
4. भाव की अपेक्षा — मन रूप में परिणत पुद्गल द्रव्यों की अनन्त अवस्थाओं को जानता है।

2.6 अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान में समानता (Similarity between Clairvoyance & Mind-reading)

आचार्य जिनभद्रगणी ने अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान में साधर्म्य (समानता) को बताते हुए चार हेतुओं का निर्देश किया है—

1. छद्मस्थ साधर्म्य,
2. विषय साधर्म्य,
3. भाव साधर्म्य,
4. अध्यक्ष साधर्म्य।

1. छद्मस्थ साधर्म्य (Similarity in Non-omniscience)

अवधि और मन:पर्यव ये दोनों ज्ञान छद्मस्थ को ही होते हैं। छद्मस्थ से तात्पर्य यह है कि जो अभी तक वीतराग नहीं हुए हैं। इन दोनों ही ज्ञान के स्वामी छद्मस्थ व्यक्ति ही होते हैं, अत: स्वामी की दृष्टि से दोनों में समानता है।

2. विषय साधर्म्य (Similarity in Subject Matter)

दोनों ही ज्ञानों का विषय केवल रूपी पदार्थ हैं। अरूपी पदार्थ जैसे — धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि इनके विषय नहीं बनते, अत: विषय की दृष्टि से दोनों में समानता है।

3. भाव साधर्म्य (Similarity in the State of Soul)

दोनों ही ज्ञान जैन कर्ममीमांसा के अनुसार अपने-अपने कर्म के क्षयोपशम (हल्केपन) से उत्पन्न होते हैं। अत: दोनों ही ज्ञान क्षायोपशमिक होने से दोनों में समानता है।

4. अध्यक्ष साधर्म्य (Similarity in the Direct Knowledge)

अध्यक्ष का अर्थ है — प्रत्यक्ष। अवधिज्ञान के समान मन:पर्यवज्ञान भी विकल प्रत्यक्ष है। दोनों ही आत्ममात्र सापेक्ष और इन्द्रिय आदि से निरपेक्ष हैं, अत: दोनों में साम्य है।

2.7 अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान में भेद (Difference between Clairvoyance and Mind-reading)

भिक्षु न्याय कर्णिका में अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान में भेद को बताने वाले चार हेतुओं का प्रयोग किया गया है — **'विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयभेदादवधिमन:पर्याययोर्भेद:'**।

1. विशुद्धिकृत भेद,
2. क्षेत्रकृत भेद,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3. स्वामिकृत भेद,

4. विषयकृत भेद।

1. विशुद्धिकृत भेद (Difference of purity)

मन:पर्यवज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अधिक विशुद्ध होता है। यद्यपि अवधिज्ञान में भी मनोद्रव्य को प्रत्यक्ष जानने की क्षमता होती है, तथापि अवधिज्ञानी उन्हें उतना स्पष्ट रूप से नहीं जान सकते हैं जितना मन:पर्यवज्ञानी जान सकते हैं। अत: अवधिज्ञान की अपेक्षा मन:पर्यवज्ञान अधिक विशुद्ध होता है।

2. क्षेत्रकृतभेद (Difference of Area)

अवधिज्ञान अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर समग्र लोक को जानता है। पूरे लोक के मूर्त्त पदार्थों को अपना विषय बनाता है, जबकि मन:पर्यवज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र पूरा लोक न होकर मनुष्य क्षेत्र प्रमाण अर्थात् 45 लाख योजन मात्र है। इस प्रकार क्षेत्र की दृष्टि से मन:पर्यवज्ञान की अपेक्षा अवधिज्ञान अधिक विस्तृत है।

3. स्वामिकृत भेद (Difference of Owner)

अवधिज्ञान के स्वामी मनुष्य और मनुष्येतर सभी प्राणी हो सकते हैं। जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार अवधिज्ञान चारों ही गतियों — नरक, देव, मनुष्य और तिर्यंच में हो सकता है। मन:पर्यवज्ञान चारों गतियों में नहीं हो सकता। यह केवल मनुष्य गति में हो सकता है और मनुष्य में भी संयमी मनुष्य को ही हो सकता है, सभी मनुष्यों को नहीं।

4. विषयकृतभेद (DIfference of Subject matter)

अवधिज्ञान का विषय सम्पूर्ण पुद्गल पदार्थ हैं। सभी पौद्गलिक पदार्थ चाहे वे सूक्ष्म हों या स्थूल, परमाणु हों या स्कन्ध अवधिज्ञान के विषय बन सकते हैं। मन:पर्यवज्ञान का विषय मात्र मनोवर्गणा के अनन्तप्रदेशी पुद्गल हैं, अत: मन:पर्यवज्ञान का विषय अवधिज्ञान के विषय का अनन्तवां भाग है।

केवलज्ञान (Perfect Knowledge)

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा स्वभावत: सर्वज्ञ है। ज्ञान उसका स्वभाव है, स्वरूप है। सम्पूर्ण पदार्थों को साक्षात् जानने की उसमें क्षमता है। किंतु कर्मों के आवरण के कारण उसकी वह क्षमता आवृत्त रहती है अत: वह सभी पदार्थों को साक्षात् नहीं जान पाता। जिस प्रकार सोना उज्ज्वल, कान्तियुक्त एवं बहुमूल्य होता है, किंतु अनादिकाल से मिट्टी से मिले होने के कारण उसकी उज्ज्वलता, स्वच्छता एवं बहुमूल्यता का गुण प्रकट नहीं हो पाता। खान से निकलने के बाद जब क्षार, मृत पुटपाक आदि विभिन्न रासायनिक क्रियाओं अथवा अन्य किन्हीं वैज्ञानिक विधियों के द्वारा जब वह मल दूर हो जाता है तब सोना अपने मूल स्वरूप में प्रकट हो जाता है। ठीक उसी प्रकार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय आदि आठ कर्मों से आवृत्त होने के कारण आत्मा के केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तआनंद आदि गुण प्रकट नहीं हो पाते। पर स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रक्रियाओं से जब आत्मा पर आया हुआ कर्मों का आवरण दूर होता है, तब आत्मा का मूल स्वभाव प्रकट होता है। उस समय आत्मा सर्वज्ञ या केवली कहलाता है। इस अवस्था में कालगत और देशगत सीमाएं समाप्त हो जाती हैं अत: वह त्रिकालवर्ती और त्रिलोकवर्ती समस्त सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों को एवं उनकी समस्त पर्यायों को एक साथ जानने की शक्ति प्राप्त कर लेता है।

3.1 केवलज्ञान : स्वरूप एवं लक्षण (Nature & Characteristics of Perfect Knowledge)

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के तीन भेदों में केवलज्ञान का तीसरा स्थान है। अवधिज्ञान एवं मन:पर्यवज्ञान को जहां विकल प्रत्यक्ष कहा गया है वहां केवलज्ञान को सकल प्रत्यक्ष कहा गया है।

केवलज्ञान को परिभाषित करते हुए भिक्षु न्याय कर्णिका में लिखा गया है — **'चेतनस्य निरावरणस्वरूपं केवलम्'** — आत्मा का निरावरण स्वरूप केवलज्ञान है। वह निरावरणता ज्ञानावरणीय कर्म के विलय से प्राप्त होती है। जैन सिद्धान्त दीपिका में केवलज्ञान को परिभाषित करते हुए लिखा गया — **'निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारि केवलम्'** अर्थात् सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों को साक्षात् जानने वाला ज्ञान केवलज्ञान है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जिनभद्रगणी ने 'केवल' शब्द के पांच अर्थ किए हैं — एक, शुद्ध, सकल, असाधारण और अनन्त।

1. एक — केवलज्ञान प्राप्त होने पर मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रहते। उनका अस्तित्व केवलज्ञान में ही विलीन हो जाता है, अत: उसे एक कहा गया है।

2. शुद्ध — केवलज्ञान को आवृत्त करने वाले या मलिन करने वाले कर्म का सर्वथा विलय हो जाने से केवलज्ञान सर्वथा निर्मल-शुद्ध है।

3. सकल — समस्त द्रव्यों व उनकी पर्यायों को पूर्णता से जानने के कारण केवलज्ञान को सकल कहा है।

4. असाधारण — केवलज्ञान के समान दूसरा कोई ज्ञान न होने के कारण इसे असाधारण कहा गया है।

5. अनन्त — केवलज्ञान अतीत, वर्तमान एवं भविष्यकालीन अनन्त पदार्थों को जानने के कारण अनन्त है। यह अप्रतिपाति है। एक बार प्राप्त होने के बाद फिर इसका कभी अन्त नहीं होता अत: इसे अनन्त कहते हैं।

केवलज्ञान विशुद्धतम ज्ञान है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घाति कर्मों के क्षय से केवलज्ञान प्रकट होता है। मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यव — ये चार ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान हैं। केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है। चार घाति कर्मों में से सबसे पहले मोहनीय कर्म का क्षय होता है, तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त बाद ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय — इन तीनों कर्मों का क्षय होता है और इनका क्षय होते ही केवलज्ञान प्राप्त होता है। केवलज्ञान का विषय सर्वद्रव्य और सर्वपर्याय है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसे केवलज्ञानी न जानता हो। कोई भी पर्याय ऐसी नहीं है जो केवलज्ञान का विषय न बनती हो। जितने भी द्रव्य हैं और उनके वर्तमान, भूत और भविष्य के जितने भी पर्याय हैं, वे सब केवलज्ञान के विषय हैं। यह ज्ञान के विकास का अन्तिम सोपान है। सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है।

3.2 केवलज्ञानी की विशेषताएँ (Specificity of an Omniscient)

स्थानांग सूत्र के अनुसार केवलज्ञानियों के पास दस वस्तुएं अनुत्तर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट होती हैं। वे निम्नलिखित हैं —

1. **अनुत्तर ज्ञान** — ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा नाश होने से उन्हें अनुत्तर-केवलज्ञान प्राप्त होता है।
2. **अनुत्तर दर्शन** — दर्शनावरणीय एवं दर्शनमोहनीय कर्म का सर्वथा नाश होने से उन्हें अनुत्तर केवलदर्शन तथा अनुत्तर क्षायिकदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है।
3. **अनुत्तर चारित्र** — चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय होने से उन्हें अनुत्तर-यथाख्यातचारित्र मिलता है।
4. **अनुत्तर तप** — तपोन्तराय कर्म के क्षय होने से उन्हें शुक्लध्यानदिरूप अनुत्तर तप प्राप्त होता है।
5. **अनुत्तरवीर्य** — वीर्यान्तराय कर्म के क्षय होने से उन्हें अनुत्तर वीर्य (शक्ति) मिलता है।
6. **अनुत्तर क्षान्ति** — क्रोधमोहनीय कर्म के क्षय होने से उन्हें अनुत्तर क्षमा मिलती है।
7. **अनुत्तर मुक्ति** — लोभमोहनीय कर्म के क्षय होने से उन्हें अनुत्तर मुक्ति-निर्लोभता प्राप्त होती है।
8. **अनुत्तर आर्जव** — मायामोहनीय कर्म के क्षय होने से उन्हें अनुत्तर आर्जव-सरलता प्राप्त होती है।
9. **अनुत्तर मार्दव** — मानमोहनीय कर्म के क्षय होने से उन्हें अनुत्तर मार्दव-मृदुता, निरभिमानता प्राप्त होती है।
10. **अनुत्तर लाघव** — चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय होने से उन्हें अनुत्तर लाघव-हल्कापन प्राप्त होता है, उन पर संसार की मोह-माया का बोझा नहीं रहता।

केवलज्ञानियों में अठारह दोष नहीं होते। वे निम्नलिखित हैं —

1. **दानान्तराय** — दान नहीं दिया जा सकना।
2. **लाभान्तराय** — इच्छित वस्तु का लाभ न हो सकना।
3. **भोगान्तराय** — प्राप्त वस्तु को भोग न सकना।
4. **उपभोगान्तराय** — प्राप्त वस्तु का उपभोग न कर सकना।
5. **वीर्यान्तराय** — समर्थ होते हुए भी इच्छित कार्य न कर सकना।
6. **मिथ्यात्व** — विपरीत श्रद्धा।
7. **अज्ञान** — मिथ्यात्वयुक्तज्ञान।
8. **अविरति** — त्याग करने की भावना न होना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

9. **काम** — भोग की इच्छा।
10. **हास्य** — हंसना।
11. **रति** — असंयम के कार्यों में आनन्द मानना।
12. **अरति** — संयम के कार्यों में अप्रसन्न रहना।
13. **शोक** — चिंता, फिक्र एवं आक्रन्दन आदि करना।
14. **भय** — डरना।
15. **जुगुप्सा** — घृणा करना।
16. **राग** — इष्ट वस्तुओं पर प्रेम-मोह करना।
17. **द्वेष** — अनिष्ट वस्तुओं पर द्वेष-ईर्ष्या आदि करना।
18. **निद्रा** — नींद लेना।

3.3 केवलज्ञान के भेद (Types of Perfect Knowledge)

जैन दर्शन के अनुसार केवलज्ञान आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव में वस्तुत: भेद नहीं होता। केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है अत: यह पूर्ण, अखण्ड और सकल है। जहां पूर्णता या अखण्डता होती है वहां ज्ञान में न्यूनाधिकता नहीं होती और जहां न्यूनाधिकता नहीं होती वहां किसी प्रकार का भेद भी नहीं होता। भेद वहां होता है जहां अपूर्णता होती है। क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले ज्ञान अपूर्ण होते हैं अत: वहां भेद भी होते हैं। एक व्यक्ति के मतिज्ञान से दूसरे व्यक्ति के मतिज्ञान में बहुत बड़ा अन्तर हो सकता है, पर केवलज्ञान में ऐसा नहीं है। एक व्यक्ति के केवलज्ञान और दूसरे व्यक्ति के केवलज्ञान में कोई अन्तर नहीं होता। क्योंकि केवलज्ञान पूर्ण ज्ञान है। अत: केवलज्ञान के कोई भेद नहीं होता। नंदीसूत्र में केवलज्ञान के दो भेद बताये गये हैं। वस्तुत: ये भेद केवलज्ञान के न होकर केवलज्ञानी के हैं, किंतु ज्ञान और ज्ञानी किसी अपेक्षा से अभिन्न होते हैं। अत: ज्ञानी में ज्ञान का उपचार करने से केवलज्ञान के दो भेद होते हैं —

1. भवस्थ केवलज्ञान,
2. सिद्ध केवलज्ञान।

3.3.1 भवस्थ केवलज्ञान (Mundane being's Omniscience)

ज्ञानावरणीय आदि चार घाति कर्मों के क्षय से मनुष्यभव में रहते हुए ही जो केवलज्ञान उत्पन्न होता है, वह भवस्थ केवलज्ञान है। भवस्थ केवलज्ञान के पुन: दो भेद किये गये हैं —

1. सयोगी भवस्थ केवलज्ञान,
2. अयोगी भवस्थ केवलज्ञान।

1. सयोगी भवस्थ केवलज्ञान — जैन दर्शन के अनुसार जब एक बार ज्ञानावरणीय कर्म का समूल क्षय हो जाता है तब वह पुन: आत्मा को आवृत्त नहीं कर सकता। अत: तेरहवें गुणस्थान में उत्पन्न केवलज्ञान संसारी (भवस्थ) अवस्था में भी रहता है और वीतराग अवस्था में भी रहता है। तेरहवें गुणस्थान का नाम सयोगीकेवली गुणस्थान है। सयोगी अर्थात् योग सहित। योग का अर्थ है — प्रवृत्ति। योग तीन हैं — मन, वचन और काय। सयोगीकेवली गुणस्थान में केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी मन, वचन, काया की प्रवृत्ति चालू रहती है। इस अवस्था में होने वाले केवलज्ञान को सयोगी भवस्थ केवलज्ञान कहते हैं।

2. अयोगी भवस्थ केवलज्ञान — चौदहवें गुणस्थान का नाम अयोगीकेवली गुणस्थान है। अयोगी अर्थात् योग रहित। जब मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का निरोध हो जाता है तब अयोगीकेवली गुणस्थान प्राप्त होता है। इस अवस्था में होने वाला केवलज्ञान अयोगीभवस्थ केवलज्ञान कहलाता है। ज्ञान की दृष्टि से सयोगी और अयोगी भवस्थ में कोई अन्तर नहीं है। अवस्था की दृष्टि से अन्तर होने के कारण ही भवस्थ केवलज्ञान के ये दो भेद किये गये हैं।

3.3.2 सिद्ध केवलज्ञान (Liberated Being's Omniscience)

चार घाति कर्मों के क्षीण होने पर केवलज्ञान प्राप्त होता है, केवलज्ञान प्राप्त होने पर भी वह जीव संसार में ही रहता है अत: उसके ज्ञान को भवस्थ केवलज्ञान कहते हैं। चार अघाति कर्मों के क्षीण होने पर जीव सिद्ध अवस्था को प्राप्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

करता है। संसार से उसका संबंध छूट जाता है, उस अवस्था में होने वाले केवलज्ञान को सिद्ध केवलज्ञान कहते हैं। यहां पर भी ज्ञान में कोई अन्तर नहीं होता। अवस्था भेद के कारण ही यह भेद किया गया है।

सिद्ध केवलज्ञान के भी दो भेद किये गये हैं—

1. अनंतरसिद्ध केवलज्ञान,

2. परम्परसिद्ध केवलज्ञान।

1. अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान— सिद्ध अवस्था के प्रथम क्षणवर्ती केवलज्ञान को अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान कहते हैं। सिद्ध होते ही पहले समय का जो केवलज्ञान है, वह अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान है।

2. परम्परसिद्ध केवलज्ञान— प्रथम समयवर्ती सिद्धों के अतिरिक्त सभी सिद्धों का केवलज्ञान परम्पर सिद्ध केवलज्ञान है।

नंदीसूत्र में अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान के पन्द्रह भेद किये गये हैं। जो कि सिद्ध होने की पूर्व अवस्था के आधार पर किये गये हैं। ये भेद जैनधर्म की विशुद्ध आध्यात्मिकता के प्रतिपादक हैं। इनमें लिंग, वेश आदि बाह्य परिवेश से मुक्त होकर केवल आत्मा के आंतरिक विकास को महत्त्व दिया गया है। वे पन्द्रह भेद इस प्रकार हैं—

1. तीर्थसिद्ध— तीर्थ का शाब्दिक अर्थ है— घाट। संसार समुद्र से पार पाने के लिए चतुर्विध धर्मसंघ (साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका) को तीर्थ से उपमित किया जाता है। इस तीर्थ की स्थापना तीर्थंकर करते हैं। तीर्थ प्रवर्तन के पश्चात् उस संघ में दीक्षित होकर केवलज्ञान एवं सिद्ध गति को प्राप्त करने वाले जीव तीर्थसिद्ध कहलाते हैं।

2. अतीर्थसिद्ध— अतीर्थसिद्ध का तात्पर्य है कि चतुर्विध तीर्थ की स्थापना से पूर्व जो जीव सिद्ध हो जाते हैं, वे अतीर्थसिद्ध कहलाते हैं। भगवान् ऋषभ की मां मरूदेवी माता इसका उदाहरण है।

3. तीर्थंकरसिद्ध— जो तीर्थ की स्थापना कर तीर्थंकर बनते हैं तथा भव्यजनों का उपकार करते हुए तीर्थंकर अवस्था में मुक्त होते हैं, वे तीर्थंकर सिद्ध कहलाते हैं। ऋषभ से लेकर महावीर तक इसके उदाहरण हैं।

4. अतीर्थंकरसिद्ध— जो तीर्थ स्थापना में प्रवृत्त नहीं होते, वे अतीर्थंकर सिद्ध कहलाते हैं। ये सामान्य केवली के रूप में मुक्त होते हैं। गौतम आदि इसके उदाहरण हैं।

5. स्वयंबुद्धसिद्ध— जो स्वयं तत्त्व को जानते हैं। बोधि के लिए दूसरे के प्रतिबोध की अपेक्षा नहीं रखते, वे स्वयंसंबुद्ध सिद्ध कहलाते हैं।

6. प्रत्येकबुद्धसिद्ध— जो किसी एक बाह्य निमित्त के आलम्बन से स्वयं बोधि प्राप्त कर मुक्त होते हैं, वे प्रत्येक बुद्ध कहलाते हैं। नमि राजर्षि आदि इसके उदाहरण हैं।

7. बुद्धबोधितसिद्ध— जो बुद्धबोधित होकर मुक्त होते हैं, वे बुद्धबोधित सिद्ध कहलाते हैं। बुद्धबोधित के चार अर्थ किये जा सकते हैं—

1. बुद्ध (तीर्थंकर आदि) से बोधि प्राप्त।
2. बुद्ध (कपिल आदि प्रत्येक बुद्धों) द्वारा बोधि प्राप्त।
3. बुद्ध बोधित (सुधर्मा आदि) द्वारा बोधि प्राप्त।
4. प्रतिबुद्ध (प्रभव आदि) द्वारा बोधि प्राप्त।

8. स्त्रीलिंगसिद्ध— जो स्त्री की शरीर रचना में अर्थात् स्त्रीरूप में सिद्ध होता है, वह स्त्रीलिंग सिद्ध कहलाता है।

9. पुरुषलिंगसिद्ध— पुरुष रूप में मुक्त होने वाले पुरुषलिंग सिद्ध कहलाते हैं।

10. नपुंसकलिंगसिद्ध— नपुंसक चारित्र का अधिकारी नहीं होता अत: वह मुक्ति का भी अधिकारी नहीं हो सकता। यहां नपुंसक से तात्पर्य कृतनपुंसक से है। किसी कारण विशेष से नपुंसकत्व को प्राप्त व्यक्ति मुक्त होता है, तो वह नपुंसकलिंग सिद्ध है।

11. स्वलिंगसिद्ध— जो जैन मुनि के वेश में मुक्त होते हैं, वे स्वलिंग सिद्ध कहलाते हैं।

12. अन्यलिंगसिद्ध— जो तापस आदि अन्य श्रमणों के वेश में मुक्त होते हैं, वे अन्यलिंग सिद्ध कहलाते हैं।

13. गृहलिंगसिद्ध— जो गृहस्थवेश में सिद्ध होते हैं, वे गृहलिंग सिद्ध कहलाते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

14. एकसिद्ध — एक समय में एक जीव सिद्ध होता है, वह एकसिद्ध कहलाता है।

15. अनेकसिद्ध — एक समय में एक साथ अनेक सिद्ध होने वाले जीव अनेकसिद्ध कहलाते हैं।

तीर्थंकर के ये 15 भेद सिद्ध होने की पूर्व अवस्था की अपेक्षा से किये गये हैं।

3.4 केवलज्ञान का विषय (Subject of Perfect Knowledge)

केवलज्ञानी सब द्रव्यों, सब क्षेत्रों, सब कालों एवं सब भावों को साक्षात् जानता है।

1. द्रव्य का अर्थ है — मूर्त्त और अमूर्त्त सभी द्रव्यों को जानने वाला। केवलज्ञान मूर्त्त और अमूर्त्त सभी द्रव्यों को साक्षात् जानता है। केवलज्ञान के अतिरिक्त कोई भी ज्ञान अमूर्त्त को नहीं जान सकता। अत: द्रव्य से केवलज्ञानी सब द्रव्यों को जानता है।

2. सर्वक्षेत्र का अर्थ है — सम्पूर्ण आकाश (लोकाकाश और अलोकाकाश) को साक्षात् जानने वाला। केवलज्ञानी सम्पूर्ण लोक और अलोक को साक्षात् जान सकता है।

3. सर्वकाल का अर्थ है — अतीत, वर्तमान एवं भविष्य को जानने वाला। केवलज्ञानी अनंत काल को जान सकता है। शेष कोई ज्ञान अनंत काल को नहीं जान सकता।

4. सर्वभाव का अर्थ है — गुरुलघु और अगुरुलघु सब पर्यायों को जानने वाला। केवलज्ञान सर्वत्र, सर्वदा (हमेशा) सब पर्यायों का साक्षात्कार करता है।

अज्ञान (Ne-science)

जीव का लक्षण है — उपयोग। उपयोग के मुख्यतया दो प्रकार हैं — साकार उपयोग और अनाकार उपयोग। इन्हें क्रमश: ज्ञान और दर्शन भी कहा जाता है। वस्तुओं में मुख्यत: दो धर्म होते हैं — एकाकारता और भिन्नाकारता। एकाकारता से पदार्थों के जानने को 'दर्शन' या सामान्य बोध कहते हैं। भिन्नाकारता से पदार्थों के जानने को 'ज्ञान' या विशेष बोध कहते हैं। जैसे — हमने एक बगीचे को देखा, यह हमारा सामान्य बोध 'दर्शन' कहलाता है तथा उसके बाद इस बगीचे का मालिक कौन है? यहां का माली कौन है? यहं कितने वृक्ष हैं? बगीचा कितना पुराना है? आदि-आदि बातों का विशेष बोध करना 'ज्ञान' कहलाता है। दूसरे शब्दों में यों समझें कि हमारे ज्ञान के मुख्य दो विषय हैं — सामान्य और विशेष। विशेष की उपेक्षा कर सामान्य का ज्ञान करना दर्शन या अनाकार उपयोग है तथा सामान्य की उपेक्षा कर विशेष को जानना ज्ञान या साकार उपयोग है।

साकार उपयोग के आठ प्रकार हैं —

पांच ज्ञान — मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान।

तीन अज्ञान — मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंग अज्ञान।

अनाकार उपयोग के चार प्रकार हैं —

चार दर्शन — चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन।

अब तक हम पांच ज्ञान की चर्चा कर चुके हैं। अब क्रमश: तीन अज्ञान और चार दर्शन को जानने का प्रयास करें।

4.1 अज्ञान (Ne-Science)

अज्ञान के दो अर्थ हैं।

1. एक तो नहीं जानने का नाम अज्ञान है, जो ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से उत्पन्न होता है। ज्ञान का अभाव होना अज्ञान है।

2. दूसरा, मिथ्यात्वी व्यक्ति जो जानता है उसका नाम भी अज्ञान है। मिथ्यात्वी व्यक्ति के ज्ञान को भी अज्ञान कहा गया है। यह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होता है।

साकार उपयोग में जिन तीन अज्ञानों की चर्चा हुई है उसका संबंध मिथ्यात्व सहचरित ज्ञान से है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4.2. ज्ञान-अज्ञान में अन्तर (Difference between knowledeg and Ne-science)

जैन दर्शन में ज्ञान और अज्ञान का अन्तर पात्रता के आधार पर किया गया है। सम्यग्दृष्टि के ज्ञान को ज्ञान माना गया है और वही ज्ञान यदि मिथ्यादृष्टि के पास है तो उसे अज्ञान माना गया है। यह अज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म का उदय नहीं, अपितु क्षयोपशम ही है। जैसे — तालाब से दो आदमी पानी भरते हैं। एक साफ-सुथरे पीपें में भरता है और दूसरा कूड़ा-कर्कट फैंकने के पीपें में। दोनों पीपों का पानी समान होने पर भी साफ पीपें का पानी पवित्र एवं गन्दे पीपें का पानी अपवित्र माना जाता है। इसी तरह उपर्युक्त ज्ञान और अज्ञान दोनों ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम हैं, फिर भी पात्र की भिन्नता के कारण सम्यक्दृष्टि का ज्ञान, 'ज्ञान' और मिथ्यादृष्टि का ज्ञान 'अज्ञान' कहलाता है।

4.3 अज्ञान के प्रकार (Types of Ne-science)

अज्ञान के तीन प्रकार हैं — 1. मति अज्ञान 2. श्रुत अज्ञान 3. विभंग अज्ञान

4.3.1. मति अज्ञान (Nescience of emperical knowledge)

मिथ्यादृष्टियों को इन्द्रियों और मन की सहायता से जो बुद्धि सम्बंधी ज्ञान उत्पन्न होता है, वह मति अज्ञान है। इसके भी मतिज्ञान की तरह अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ऐसे चार भेद हैं।

4.3.2. श्रुत अज्ञान (Nescience of Articulate Knowledge)

द्रव्य श्रुत के सहारे से मति अज्ञान जब दूसरों को समझाने लायक हो जाता है तब वही श्रुत अज्ञान कहलाने लगता है। इसका विवेचन श्रुतज्ञान के समान ही है। इसमें सम्यक्श्रुत को न लेकर मिथ्यादृष्टियों द्वारा रचित लौकिक शास्त्रों को ग्रहण किया गया है।

4.3.3. विभंग अज्ञान (Nescience of Para-clairvoyant)

सर्वज्ञभाषित तत्त्वों के प्रति विरूद्ध श्रद्धा रखने वाले मिथ्यादृष्टियों का अवधिज्ञान विभंग अज्ञान कहलाता है। यह नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन सभी गतियों में हो सकता है।

प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान पांच हैं तो अज्ञान तीन ही क्यों? मन:पर्यव अज्ञान और केवल अज्ञान क्यों नहीं होता? इसका समाधान यही है कि मन:पयर्वज्ञान और केवलज्ञान मात्र सम्यग्दृष्टि व्यक्ति को ही प्राप्त होते हैं, मिथ्यादृष्टि को नहीं। जबकि मति, श्रुत, और अवधि तीनों ज्ञान मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्दृष्टि दोनों को समान रूप से प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से मन:पर्यव अज्ञान और केवल अज्ञान नहीं होते।

ज्ञान और अज्ञान की चर्चा के पश्चात् अब हम 'दर्शन' पर विचार करेंगे।

5.1 दर्शन (Intuition)

दर्शन का शाब्दिक अर्थ है — देखना। जैन परम्परा में दर्शन शब्द का प्रयोग मुख्य रूपेण दो अर्थों में किया जाता है — 1. सामान्य अवबोध, 2. तत्त्वार्थ श्रद्धान।

जैन कर्मशास्त्र के अनुसार आठ कर्मप्रकृतियों में दर्शनावरणीय और मोहनीय कर्म का भी उल्लेख है। मोहनीय कर्म की अवान्तर प्रकृतियां दो हैं — दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। यहां ज्ञातव्य है कि दर्शनावरणीय कर्म सामान्य बोध रूप दर्शन का आवारक है तथा दर्शनमोहनीय कर्म तत्त्वश्रद्धा रूप दर्शन का आवारक है। यहां 'दर्शन' से तात्पर्य सामान्य अवबोध रूप दर्शन से है, जो दर्शनावरणीय कर्म के क्षय एवं क्षयोपशम से प्राप्त होता है।

5.2 दर्शन के प्रकार (Types fo Intuition)

अनाकार उपयोग अथवा दर्शन के चार प्रकार हैं — 1. चक्षुदर्शन 2. अचक्षुदर्शन 3. अवधिदर्शन 4. केवलदर्शन

5.2.1. चक्षुदर्शन (Ocular Intuition)

चक्षुदर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर चक्षुरिन्द्रिय की सहायता से पदार्थों का जो सामान्य बोध होता है, वह चक्षुदर्शन कहलाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.2.2. अचक्षुदर्शन (Non-ocular Intuition)

अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर चक्षु के सिवाय शेष चार इन्द्रियों और मन की सहायता से पदार्थों का जो सामान्य बोध होता है वह अचक्षु दर्शन कहलाता है। यह दर्शन मति-श्रुतज्ञान एवं मति-श्रुतअज्ञान से पहले होता है।

5.2.3. अवधिदर्शन (Clairvoyant Conation)

अवधिदर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा से रूपी द्रव्य का जो सामान्य बोध होता है, वह अवधिदर्शन कहलाता है।

5.2.4. केवलदर्शन (Absolute Conation)

केवलदर्शनावरणीय कर्म का क्षय होने पर आत्मा को जो सर्व पदार्थों का सामान्य बोध होता है, वह केवलदर्शन कहलाता है।

प्रश्न होता है कि चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन न कहकर केवल इन्द्रियदर्शन कह देते तो एक ही में पांचों इन्द्रियों का समावेश हो जाता या फिर पांचों इन्द्रियों के पांच भेद अलग-अलग गिनाने चाहिए, ऐसा क्यों नहीं किया? इसका समाधान यही है कि 'दर्शन' की व्यवस्था वस्तु के सामान्य और विशेष — इन दो स्वभावों के आधार पर हुई है। चक्षुदर्शन भी यद्यपि सामान्य बोध है, फिर भी अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा वह अधिक विश्वस्त है। इसलिए अन्य इन्द्रियों से भिन्न चक्षुदर्शन का स्वतंत्र कथन किया गया है और शेष इन्द्रियों का अचक्षुदर्शन में कथन कर दिया गया है।

जैन दर्शन में पांच प्रकार के ज्ञान बताये गये हैं और दर्शन चार ही बताये गये हैं। मन:पर्यवज्ञान की भांति मन:पयर्वदर्शन क्यों नहीं होता? इसका समाधान देते हुए कहा गया है कि मन:पर्यवज्ञान सिर्फ मनोगत पर्यायों का ही ज्ञान कराता है। उसका विषय मानसिक अवस्थाएं हैं, जो विशेष ही होती हैं। अत: मन:पर्यवज्ञान ही होता है। मन:पर्यव दर्शन नहीं होता।

5.3 सारांश

इस प्रकार ज्ञान प्राप्ति का प्रथम सोपान है — दर्शन। उसका अगला चरण है — ज्ञान। दर्शन में वस्तु की सत्तामात्र का ग्रहण होता है। ज्ञान में वस्तु की विशेष पर्यायों का बोध होता है। दर्शन और ज्ञान को क्रमश: सामान्य ज्ञान और विशिष्ट ज्ञान कहा जा सकता है। प्रथम स्तर में मन के साथ वस्तु का केवल सम्पर्क स्थापित होता है तथा दूसरे स्तर में उस वस्तु के व्यापक स्वरूप की जानकारी मिलती है। वस्तु में निहित सामान्य और विशेष स्वरूप के अवबोधनार्थ दर्शन और ज्ञान दोनों की अपनी विशेष उपयोगिता है।

5.4 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न-1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. मन:पर्यवज्ञान किसे कहते हैं? उसके भेदों का विवेचन करें।
2. केवलज्ञान के स्वरूप का विश्लेषण करें?

प्रश्न-2. लघूत्तरात्मक प्रश्न (टिप्पणी)

1. अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान में अन्तर
2. भवस्थ केवलज्ञान
3. अज्ञान
4. दर्शन

प्रश्न-3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मन:पर्यवज्ञान किसे होता है?
2. मन:पर्यवज्ञान के मुख्य भेद कौन-से हैं?
3. केवलज्ञान को अनन्त क्यों कहा गया है?
4. तीर्थसिद्ध से क्या तात्पर्य है?
5. मन:पर्यवज्ञान के दर्शन क्यों नही होता?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–3 : न्याय, न्याय के अंग (प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति, प्रमाता) अभाव (Nyaya, Parts of Nyaya, Non-existence)

संरचना

0.0 प्रस्तावना
1.0 उद्देश्य
1.1 न्याय की परिभाषा
1.2 लक्षण की परिभाषा
1.3 लक्षण के प्रकार
1.4 लक्षणाभास
1.5 वर्णन और लक्षण में भेद
1.6 न्यायशास्त्र की उपयोगिता
2.1 न्याय के अंग
  2.2.1 प्रमाण
  2.2.2 प्रमेय
  2.2.3 प्रमिति
  2.2.4 प्रमाता
3.1 प्रमेय का स्वरूप
  3.1.1 सत्–असत्
  3.1.2 नित्य–अनित्य
  3.1.3 सामान्य–विशेष
  3.1.4 वाच्य–अवाच्य
4.1 प्रमिति का स्वरूप
  4.1.1 अनन्तर फल
  4.1.2 परम्पर फल
4.2 प्रमाण और प्रमिति का भेदाभेद
5.1 प्रमाता का स्वरूप
  5.1.1 प्रमाता स्वपरप्रकाशी है
  5.1.2 प्रमाता परिणामीनित्य है
5.2 प्रमाण द्वारा प्रमाता की सिद्धि
5.3 अनात्मवादियों द्वारा आत्मा के नास्तित्व की सिद्धि
5.4 आत्मवादियों द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि
6.1 अभाव
6.2 अभाव के प्रकार
  6.2.1 प्राग् अभाव
  6.2.2 प्राध्वंस अभाव
  6.2.3 इतरेतर अभाव
  6.2.4 अत्यन्त अभाव
6.3 एकान्त भावरूप वस्तु

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

6.4 एकान्त भावरूप वस्तु की समीक्षा
6.5 एकान्त अभावरूप वस्तु
6.6 एकान्त अभावरूप वस्तु की समीक्षा
6.7 सारांश
6.8 अभ्यास प्रश्नावली

1.0 प्रस्तावना (Inroduction)

जैन आगमों में मुख्य रूप से सर्वत्र पांच ज्ञान की ही चर्चा उपलब्ध होती है। न्यायशास्त्र का विकास बाद में हुआ है। जब न्याय-वैशेषिक, बौद्ध, मीमांसा आदि दर्शनों में न्याय का पर्याप्त विकास हो चुका था तथा 'न्याय' से संबंधित अनेक स्वतंत्र ग्रंथों का निर्माण भी हो चुका था तब जैन आचार्यों के लिए भी यह आवश्यक हो गया कि वे भी न्याय के विषय में कुछ चिन्तन करें। फलस्वरूप उमास्वाति ने सर्वप्रथम ज्ञान का प्रमाणीकरण कर उसे प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भागों में विभाजित किया। सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलंक प्रभृति अनेक जैन आचार्यों ने समय-समय पर न्याय के ग्रंथों का निर्माण किया। इसलिए जैन दर्शन में भी हमें व्यवस्थित रूप से 'न्याय' की चर्चा उपलब्ध होती है। इस इकाई में न्याय, न्याय के अंग तथा अभाव का विवेचन किया गया है। वस्तु के स्वरूप का निर्णय न्याय के द्वारा किया जाता है। प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता — ये चार न्याय के अंग हैं।

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है। उन अनन्त विरोधी धर्मों में एक धर्म है — भाव और अभाव का अविनाभाव। कुछ दार्शनिक वस्तु को भावरूप मानते हैं तो कुछ दार्शनिक वस्तु को अभावरूप मानते हैं। जैन दर्शन वस्तु को भाव-अभाव रूप मानता है। वस्तु को एकान्त भावरूप या एकान्त अभावरूप मानने से अनेक समस्याएँ होती हैं। अत: वस्तु को भावाभावरूप मानना चाहिए।

1.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप —

* न्याय के स्वरूप और उसकी उपयोगिता को जान सकेंगे।
* लक्षण और लक्षणाभास के अन्तर को समझ सकेंगे।
* न्याय के प्रमुख चार अंग — प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
* अभाव और अभाव के चार प्रकारों का ज्ञान कर सकेंगे।
* वस्तु एकान्त भावरूप या अभावरूप नहीं होती अपितु भावाभावरूप होती है, इस सच्चाई को समझ सकेंगे।

न्याय (Nyaya)

मीमांसा की व्यवस्थित पद्धति अथवा प्रमाण की मीमांसा का नाम न्याय है। न्याय शब्द के अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं —

1. नियमयुक्त व्यवहार — न्यायालय आदि प्रयोग इसी अर्थ में होते हैं।
2. प्रसिद्ध दृष्टान्त के साथ दिखाया जाने वाला सादृश्य, जैसे — देहली-दीपक-न्याय।
3. अर्थ की प्राप्ति या सिद्धि।

यहां 'न्याय' का तीसरा अंग प्रासंगिक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.1 न्याय की परिभाषा (Definition of Nyaya (Logical Analysis))

वस्तु का अस्तित्व स्वत: सिद्ध है। ज्ञाता उसे जाने या न जाने, इससे उसके अस्तित्व में कोई अन्तर नहीं आता। वह ज्ञाता के द्वारा जानी जाती है तब प्रमेय बन जाती है और ज्ञाता जिससे जानता है, वह ज्ञान यदि सम्यक् या निर्णायक होता है तो प्रमाण बन जाता है। इसी आधार पर 'न्याय' की परिभाषा निर्धारित की गई — **'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय:'** अर्थात् प्रमाण के द्वारा अर्थ (पदार्थ) का परीक्षण करना न्याय है। न्याय शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए भी शास्त्रकारों ने उसका यही अर्थ किया है — **'नीयते ज्ञायते विवक्षितार्थोऽनेनेति न्याय:'** जिसके द्वारा निश्चित और निर्बाध वस्तुतत्त्व का ज्ञान होता है, उसे न्याय कहते हैं।

भिक्षु न्याय कर्णिका में न्याय को परिभाषित करते हुए लिखा गया — **'युक्त्यार्थपरीक्षणं न्याय:'** — युक्ति के द्वारा पदार्थ का परीक्षण करना न्याय है। न्याय की इस परिभाषा में दो शब्द ऐसे हैं, जिन्हें समझना आवश्यक है, वे हैं — युक्ति और परीक्षा।

युक्ति — साध्य और साधन के अविरोध का नाम युक्ति है।

परीक्षा — एक वस्तु के बारे में अनेक विरोधी विचार सामने आते हैं, तब उनके बलाबल अर्थात् सही-गलत का निर्णय करने के लिए जो विचार किया जाता है, उसका नाम परीक्षा है। पदार्थ का जो लक्षण बताया गया है, वह ठीक है या नहीं। उसमें असंभव आदि दोष तो नहीं है, इन सब बातों का निर्णय करना ही परीक्षा है।

उदाहरण के लिए 'अ' के बारे में इन्द्र का विचार सही है और चन्द्र का विचार गलत है, यह निर्णय देने वाले के पास एक पुष्ट आधार होना चाहिए, अन्यथा उसके निर्णय का कोई मूल्य नहीं हो सकता। 'इन्द्र' के विचार को सही मानने का आधार यह हो सकता है कि उसकी युक्ति (प्रमाण) में अर्थात् साध्य-साधन में विरोध न हो। 'इन्द्र' की युक्ति के अनुसार 'अ' एक अक्षर (साध्य) है, क्योंकि उसके दो टुकड़े नहीं हो सकते।

'चन्द्र' के मतानुसार 'ए' भी अक्षर है, क्योंकि वह वर्णमाला का एक अंग है। 'चन्द्र' का मत गलत है, क्योंकि इसमें साध्य-साधन की संगति नहीं है। 'ए' वर्णमाला का अंग है, फिर भी वह अक्षर नहीं है। वह 'अ+इ' के संयोग से बनता है, इसलिए यह संयोगज वर्ण है। इस प्रकार बलाबल के आधार पर सही और गलत का परीक्षण करना परीक्षा है। न्याय की इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता हैं कि अर्थ की प्राप्ति या सिद्धि न्याय हैं।

अर्थसिद्धि (Attainment of Reality)

'प्राप्यतेऽर्थसिद्धिर्येन स न्याय:' — जिससे अर्थसिद्धि प्राप्त की जाती है, उसे न्याय कहते हैं। न्याय की प्रवृत्ति अर्थसिद्धि के लिए होती है। व्यक्ति किसी उद्देश्य से कार्य का प्रारंभ करता है और उसकी सिद्धि होने पर उसका अन्त हो जाता है। उद्देश्य और सिद्धि एक ही क्रिया के दो पहलू हैं। उद्देश्य की सिद्धि के लिए क्रिया चलती है और उसकी सिद्धि होने पर क्रिया रुक जाती है।

अर्थसिद्धि के तीन रूप (Three forms of the Atainment of Reality)

प्रत्येक सिद्धि के साथ निर्माण, प्राप्ति या निर्णय — इन तीनों में से एक अर्थ अवश्य जुड़ा रहता है। इसलिए अर्थसिद्धि के भी तीन रूप बनते हैं, जैसाकि भिक्षु न्याय कर्णिका में कहा है — **'असत: प्रादुर्भाव: इष्टावाप्ति-र्भावज्ञप्तिश्चेति त्रिविधाऽर्थसिद्धि:'** — अर्थसिद्धि के तीन रूप बनते हैं —

1. असत् का प्रादुर्भाव,
2. इष्ट की प्राप्ति,
3. भावज्ञप्ति।

1. असत् का प्रादुर्भाव (Origination of something hidden)

मिट्टी में घड़ा असत् था। कुम्हार ने मिट्टी से घड़े का निर्माण किया। मिट्टी में जो घड़ा पहले असत् था, उस असत् का प्रादुर्भाव (निर्माण) हो गया। **'घड़ा'** नामक वस्तु की उत्पत्ति हो गई। यह अर्थसिद्धि का पहला प्रकार है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. इष्ट की प्राप्ति (Attainment of the desired goal)

जो वस्तु चाहते हैं, उसकी प्राप्ति हो जाना ही इष्ट की प्राप्ति है। भयंकर गर्मी में कोई व्यक्ति जंगल से गुजर रहा था। प्यास लग रही थी। पानी पीने की इच्छा हुई। उसे पानी मिल गया, यह इष्ट वस्तु की प्राप्ति हुई। इष्ट की प्राप्ति हो जाना, अर्थसिद्धि का दूसरा प्रकार है।

3. भावज्ञप्ति (Cognition of the reality of an object)

भावज्ञप्ति से तात्पर्य है, वस्तु के स्वरूप का निर्णय होना, यथार्थ ज्ञान होना। सत् पदार्थ की निश्चित जानकारी या बौद्धिक प्राप्ति ही भावज्ञप्ति है। यह भावज्ञप्ति अर्थसिद्धि का तीसरा प्रकार है।

इन तीनों में से प्रथम दो असत् की उत्पत्ति और इष्ट की प्राप्ति से न्यायशास्त्र का साक्षात् संबंध नहीं है। न्यायशास्त्र का क्षेत्र भावज्ञप्ति से है अर्थात् सत् (वस्तु) के स्वरूप के निश्चय से है। परम्परकारण के रूप में इष्ट-वस्तु की प्राप्ति को भी प्रमाण का फल माना जा सकता है।

इस प्रकार न्याय की प्रवृत्ति अर्थसिद्धि के लिए होती है और वह अर्थसिद्धि लक्षण और प्रमाण से होती है।

लक्षण (Characteristics)

पदार्थ को जानने के दो साधन हैं — प्रमाण और लक्षण। भिक्षु न्याय कर्णिका में लिखा है **'सा च लक्षण-प्रमाणाभ्याम्'** प्रमाण के द्वारा वस्तु के स्वरूप का निर्णय होता है और लक्षण निश्चित स्वरूप वाली वस्तुओं को श्रेणीबद्ध करता है। प्रमाण हमारा ज्ञानगत धर्म है और लक्षण वस्तुगत धर्म।

1.2 लक्षण की परिभाषा (Definition of Characteristics)

लक्षण को परिभाषित करते हुए लिखा गया — **'व्यवच्छेदकधर्मो लक्षणम्'** — एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् करने वाला धर्म लक्षण कहलाता है। किसी वस्तु में रहने वाले असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं। लक्षण के दो प्रयोजन माने गये हैं — व्यावृत्ति और व्यवहार। सजातीय तथा विजातीय पदार्थों से भिन्नता व्यावृत्ति है। उदाहरणतया **'सास्नादिमान् प्राणी गाय है'** — इस कथन में भैंस आदि सजातीयों तथा मनुष्य आदि विजातीयों से गाय की व्यावृत्ति (भिन्नता) सिद्ध होती है। क्योंकि भैंस, घोड़ा, बकरी आदि सजातीय प्राणियों और मनुष्य आदि विजातीय प्राणियों के सास्ना (गलकम्बल) नहीं होता, अत: यह लक्षण व्यावर्तक है। यदि गाय का यह लक्षण किया जाये कि **'गोत्वमान् गाय होती है'**। यह लक्षण व्यावर्तक होने के साथ ही व्यवहार साधक भी है। कुछ लक्षण केवल व्यवहार साधक होते हैं, व्यावर्तक नहीं होते। जैसे — ज्ञेय वह है जिसमें ज्ञेयत्व रहता है। इस उदाहरण में किसी का भी व्यावर्तन नहीं हुआ है, क्योंकि संसार की सभी वस्तुएं ज्ञेय हैं।

1.3 लक्षण के प्रकार (Types of Characteristics)

यह जगत् अनेकविध पदार्थों से संकुल (व्याप्त) है। जब हमें उनमें से किसी एक की अपेक्षा होती है, तब उसे औरों से पृथक् करने के लिए विशेष धर्म को बताना पड़ता है। वह विशेष धर्म ही उसका लक्षण बनता है। लक्षण तीन प्रकार के होते हैं —

1. स्वभावधर्म लक्षण,
2. अवयव लक्षण,
3. अवस्था लक्षण।

1. स्वभावधर्म लक्षण (Intrinsic Characteristic)

चैतन्य जीव का स्वभाव धर्म है। यह जीव की स्वतंत्र सत्ता स्थापित करता है, इसलिए यह जीव का गुण है तथा यह जीव को अजीव से पृथक समझने में सहायता देता है, इसलिए यह (चैतन्य) जीव का स्वभावधर्म लक्षण बन जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. अवयव लक्षण (Characteristic of some part of the body)

सास्ना (गलकम्बल) गाय का अवयव विशेष है। यह गाय में ही होता है, दूसरे पशुओं में नहीं होता। इसलिए यह (सास्ना) गाय का लक्षण बन जाता है। जो आदमी गाय को नहीं जानता उसे हम 'सास्ना चिह्न' समझाकर गाय का ज्ञान करा सकते हैं। अत: सास्ना गाय का अवयव लक्षण है।

3. अवस्था लक्षण (Characteristic of a perticular condition)

कभी-कभी अवस्था विशेष भी लक्षण बन जाता है। उदाहरणतया दस आदमी जा रहे हैं। हमें उनमें से एक आदमी को बुलाना है। जिसे बुलाना है उसके हाथ में डण्डा है। हम आवाज देते हैं — **'डण्डे वाले आदमी, आओ।'** दस में से एक, जिसके हाथ में डण्डा था, वह आ जाता है। इसका कारण उसकी एक विशेष अवस्था है। अत: 'दण्डे वाले' अवस्था लक्षण है।

अवस्था लक्षण स्थायी नहीं होता क्योंकि डण्डा हर समय उसके पास नहीं रहता। इसलिए उसे कादाचित्क लक्षण कहा जाता है। इसका दूसरा नाम अनात्मभूत लक्षण भी है। यह वस्तु का व्यवच्छेद करता है, भले ही कुछ समय के लिए ही करे अत: इसे लक्षण मानने में कोई आपत्ति नहीं है। पहले दो प्रकार के लक्षण स्थायी (वस्तुगत) होते हैं अत: उन्हें 'आत्मभूत' कहा जाता है।

लक्षण के दो रूप (Two aspects of Characteristic)

विषय के ग्रहण की अपेक्षा से लक्षण के दो रूप बनते हैं — प्रत्यक्ष और परोक्ष। ताप के द्वारा अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसलिए 'ताप' अग्नि का प्रत्यक्ष लक्षण है। धूम (धुआं) के द्वारा अग्नि का परोक्ष ज्ञान होता है इसलिए 'धूम' अग्नि का परोक्ष लक्षण है।

1.4 लक्षणाभास (लक्षण के दोष) (Fallacious Differentia)

वस्तु का असाधारण धर्म ही लक्षण होता है, साधारण धर्म नहीं। प्राणित्व सभी जीवों का साधारण धर्म है अत: गाय के लक्षण में उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि प्राणित्व केवल गाय में ही नहीं अपितु सभी प्राणियों में पाया जाता है। कोई भी धर्म असाधारण तभी कहलाता है जब वह लक्ष्य में रहता हो। जिस वस्तु का लक्षण दिया जा रहा है, वह लक्ष्य है। लक्ष्य के वर्ग की सभी वस्तुओं में उस लक्षण का समावेश होना चाहिए। लक्ष्य के वर्ग से बाहर की किसी वस्तु में उसका समावेश नहीं होना चाहिए। अत: किसी भी वस्तु का लक्षण बनाते समय तीन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। जैसे लक्षण —

1. श्रेणी के सब पदार्थों में होना चाहिए।
2. श्रेणी के बाहर नहीं होना चाहिए।
3. श्रेणी के लिए असंभव नहीं होना चाहिए।

कभी-कभी लक्षण वास्तविक नहीं होता किंतु लक्षण की तरह प्रतीत होता है, वह लक्षणाभास कहलाता है। **'अव्याप्त-अतिव्याप्त-असंभविनस्लक्षणाभासा:'** — लक्षणाभास के तीन प्रकार हैं —

1. अव्याप्त लक्षणाभास,
2. अतिव्याप्त लक्षणाभास,
3. असंभवी लक्षणाभास।

1. अव्याप्त लक्षणाभास (Inadequate perverse (too narrow) fallacious differentia)

अव्याप्त को परिभाषित करते हुए भिक्षु न्याय कर्णिका में लिखा है — **लक्ष्यैकदेशवृत्तिरव्याप्त:, यथा-पशो र्विषाणित्वम्** — जो लक्षण लक्ष्य के एक देश में व्याप्त होता है, पूरे लक्ष्य में नहीं होता, वह अव्याप्त लक्षणाभास कहलाता है। जैसे — 'पशु सींग वाला होता है।' यहां पशु का लक्षण सींग है किंतु यह 'सींग' लक्षण सब पशुओं में नहीं मिलता। घोड़ा एक पशु है किंतु उसके सींग नहीं होते। अत: 'सींग' लक्षण पूरे पशु वर्ग में व्याप्त न होने के कारण अव्याप्त लक्षण के अंतर्गत आता है। अत: यह अव्याप्त लक्षणाभास है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. अतिव्याप्त लक्षणाभास (Unwarranted extensive fallacious differentia)

अतिव्याप्त को परिभाषित करते हुए लिखा — **'लक्ष्यालक्ष्यवृत्तिरतिव्याप्तः। यथा-वायोर्गतिमत्त्वम्'** — जो लक्षण लक्ष्य के साथ-साथ अलक्ष्य में भी व्याप्त होता है, वह अतिव्याप्त लक्षणाभास कहलाता है। जैसे — वायु गतिशील होती है। इसमें वायु का लक्षण गति है और यह गति वायु में पूर्ण रूप से व्याप्त होती है। किंतु यह गति वायु के साथ-साथ दूसरी वस्तुओं में भी होती है। जैसे — घोड़ा वायु नहीं है, फिर भी वह गति करता है। अतः 'गति' लक्षण पूरे लक्ष्य (वायु) में व्याप्त होने के साथ-साथ अलक्ष्य (घोड़ा, गाय आदि) में भी व्याप्त होने के कारण अतिव्याप्त लक्षण है। इसलिए यह अतिव्याप्त लक्षणाभास है।

3. असंभव लक्षणाभास (Impossibility flaw)

असंभव को परिभाषित करते हुए लिखा गया-**'लक्ष्यमात्रावृत्तिरसंभवी'। यथा — पुद्गलस्य चेतनत्वम्**-जो लक्षण अपने लक्ष्य में बिल्कुल ही न मिले वह असंभव लक्षणाभास कहलाता है। जैसे-'पुद्गल (जड़) चैतन्यवान होता है' यह जड़ पदार्थ का असंभव लक्षण है। जड़ और चेतन का अत्यन्ताभाव होता है। जड़ किसी भी समय चेतन नहीं बन सकता और चेतन किसी भी समय जड़ नहीं बन सकता। अतः चेतन लक्षण पुद्गल में बिल्कुल ही न पाये जाने के कारण असंभव लक्षण है। इसलिए यह असंभव लक्षणाभास है।

वस्तु के ज्ञान में लक्षण एक महत्त्वपूर्ण साधन बनता है पर किसी भी वस्तु के लक्षण का निर्धारण करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वह अव्याप्त, अतिव्याप्त और असंभव दोष से सर्वथा रहित हो। इन दोषों के होने पर वह लक्षण न रहकर फिर लक्षणाभास बन जाता है।

1.5 वर्णन और लक्षण में भेद (Difference in Explaination and Characteristics)

किसी वस्तु का वर्णन करना और किसी वस्तु का लक्षण करना ये दो अलग-अलग बातें हैं। वर्णन में साधारण धर्म भी कहा जा सकता है जबकि लक्षण असाधारण धर्म ही बनता है।

वस्तु में दो प्रकार के धर्म होते हैं —

1. स्वभाव धर्म,
2. स्वभाव-सिद्ध धर्म।

प्राणी वह होता है जो ज्ञानवान् होता है — यहाँ ज्ञान प्राणी नामक वस्तु का स्वभाव धर्म है। प्राणी वह होता है जो खाता है, पीता है, चलता है — ये उसके स्वभाव-सिद्ध धर्म हैं। 'ज्ञान' प्राणी को अप्राणी से पृथक् करता है, इसलिए 'ज्ञान' प्राणी का लक्षण है। खाना-पीना, चलना — ये प्राणी को अप्राणी से पृथक् नहीं करते। इंजन भी खाता है, पीता है, चलता है, इसलिए ये प्राणी के लक्षण नहीं बनते, सिर्फ उसका वर्णन करते हैं।

1.6 न्यायशास्त्र की उपयोगिता (Importance of Logical Science)

संसार में अधिकतर बातों या वस्तुओं की उपयोगिता का प्रश्न संबद्ध देश, काल, पात्र आदि की स्थिति के साथ जुड़ा है। न्यायशास्त्र भी इसका अपवाद नहीं है। समय-समय पर विद्यार्थी के मानस पटल पर यह जिज्ञासा उभरती रहती है कि न्यायशास्त्र क्यों पढ़ें? इसकी क्या उपयोगिता है?

चार्वाक के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शनों में किसी न किसी रूप में मुक्ति को ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है और उस मोक्ष की प्राप्ति ही न्याय के पठन-पाठन का उद्देश्य है क्योंकि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती और किसी भी तथ्य का समग्र ज्ञान न्याय की प्रक्रिया को अपनाये बिना नहीं हो सकता।

न्याय को अन्य शास्त्रों का दीपक भी बताया गया है क्योंकि उनके रहस्यों का पता लगाने के लिए और संभावित विकल्पों में से सर्वाधिक समर्थ विकल्प का निश्चय करने के लिए बौद्धिक ऊहापोह की आवश्यकता पड़ती है। कौनसा पक्ष, मत या तथ्य अधिक संगत है, इसका निर्णय न्याय की प्रक्रिया से ही अधिकतर संभव होता है। जो लोग श्रद्धा, विश्वास या आप्तवचनों के आधार पर चलते हैं उनके लिए तर्क भले ही उपयोगी न हो, पर जीवन एवं जगत् के अधिकतर क्रियाकलापों का आधार तो कर्त्ता का विवेक ही है और विवेक का सबसे बड़ा विश्लेषक न्यायशास्त्र है। यद्यपि यह भी एक तथ्य है कि संसार की जनसंख्या के बहुत बड़े वर्ग को अपनी जीवनयात्रा में न्याय जैसे बौद्धिक शास्त्र के अध्ययन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, किंतु यह बात तो बहुत कुछ अन्य शास्त्रों के बारे में भी कही जा सकती है। बिजली का उपयोग असंख्य लोग करते हैं, पर उससे संबद्ध विज्ञान के विधिवत् अध्ययन के उपयोग के प्रति जो लोग सचेत हैं, उनकी संख्या तो नगण्य ही है।

न्याय का विकास मध्ययुग में हुआ। अपनी परम्परा का समर्थन एवं विपक्ष का खण्डन करने के लिए न्यायशास्त्र की आवश्यकता पड़ती रहती है। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने वेद के चार उपांगों में न्याय की गणना की है और इसे सब विद्याओं का दीपक बतलाया है।

वास्तविक निष्कर्ष की परीक्षा के लिए बुद्धि में परिष्कार चाहिए। इस बौद्धिक परिष्कार का साधन न्यायशास्त्र है। यह बुद्धि को अर्थसिद्धि के योग्य बनाता है। फलितार्थ में बुद्धि को अर्थसिद्धि के योग्य बनाना ही न्यायशास्त्र की उपयोगिता है।

न्याय का आधार संशय है। यदि कोई विषय निर्णीत है या अस्तित्व में ही नहीं है तो वहां न्याय की आवश्यकता नहीं पड़ती, किंतु जहां किसी वस्तु या समस्या का अस्तित्व हो पर उसका निर्णय न हो रहा हो, वहीं न्याय की सहायता अपेक्षित होती है। स्पष्ट है कि ऐसे अवसर आम लोगों के जीवन से लेकर महान् शास्त्रों के विश्लेषण तक सभी जगह उपस्थित होते रहते हैं, अत: न्यायशास्त्र न केवल शास्त्रीय दृष्टि से अपितु व्यावहारिक जीवनयापन के लिए भी अत्यधिक उपयोगी है।

2.1 न्याय के अंग (Parts of Nyaya)

न्याय-पद्धति की शिक्षा देने वाला शास्त्र 'न्याय-शास्त्र' कहलाता है। इसके मुख्य चार अंग हैं—

1. प्रमाण — वस्तु को जानने का साधन।
2. प्रमेय — द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु।
3. प्रमिति — प्रमाण का फल, प्रमाण द्वारा प्रमेय को जानने पर प्राप्त होने वाला परिणाम।
4. प्रमाता — आत्मा-प्रमाण के द्वारा प्रमेय को जानने वाला।

प्रमाण (Valid Cognition)

न्याय के चार अंगों में प्रथम अंग है — प्रमाण। यह भारतीय दर्शन का प्रमुख विमर्शनीय विषय है। जैन दर्शन में प्रमाण की अनेक परिभाषाएं उपलब्ध होती हैं, उन सभी में यथार्थ ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है। प्रमाण के द्वारा प्रमेय का ज्ञान होता है। प्रमाण-प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का होता है। प्रमाण की विस्तृत चर्चा आप इकाई-4 में पढ़ेंगे। यहां शेष तीन अंगों की चर्चा की जा रही है।

प्रमेय (Object of Valid Cognition)

न्याय के चार अंगों में दूसरा अंग है — प्रमेय। **'प्रमातुं योग्यं प्रमेयम्'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाण द्वारा जानने योग्य पदार्थ को प्रमेय कहा जाता है। दर्शन जगत् में प्रमेय के विषय में दो मत हैं।

कुछ दर्शन प्रमेय की वास्तविकता को स्वीकार करते हैं अर्थात् प्रमेय को वास्तविक मानते हैं, वे वस्तुवादी या यथार्थवादी दर्शन कहलाते हैं।

कुछ दर्शन प्रमेय की वास्तविकता को स्वीकार नहीं करते अर्थात् प्रमेय को वास्तविक नहीं मानते, वे प्रत्ययवादी दर्शन कहलाते हैं।

भारतीय दर्शन में वेदान्त एवं बौद्ध प्रत्ययवादी दर्शन की गणना में आते हैं क्योंकि ये जगत् के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। शेष दर्शन वस्तुवादी दर्शन की गणना में आते हैं क्योंकि वे जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.1 प्रमेय का स्वरूप (Nature of Object)

प्रमाण के विषय को प्रमेय कहते हैं। संख्या की दृष्टि से प्रमेय अनन्त हैंक्योंकि जगत् में जितने भी द्रव्य या पदार्थ हैं, वे सब प्रमेय हैं। प्रमेय का विभाजन पदार्थों की संख्या के आधार पर नहीं अपितु उनकी स्वरूपगत विशेषताओं के आधार पर किया जाता है। दर्शन जगत् में स्वरूप की दृष्टि से प्रमेय के चार रूप बनते हैं—

1. प्रमेय नित्य हैं।
2. प्रमेय अनित्य हैं।
3. कुछ प्रमेय नित्य एवं कुछ अनित्य हैं।
4. प्रमेय नित्यानित्य हैं।

वेदान्त, सांख्य आदि दर्शन में प्रमेय को कूटस्थ नित्य माना गया है। बौद्ध दर्शन में प्रमेय को अनित्य माना गया है। न्याय दर्शन में कुछ प्रमेयों, जैसे— आत्मा, आकाश आदि को नित्य माना गया है तथा दीपशिखा आदि कुछ प्रमेयों को अनित्य माना गया है। जैन दर्शन में प्रमेय को नित्यानित्य माना गया है।

जैन दर्शन में प्रमेय का स्वरूप (Nature of Object in Jaina Philosophy)

जैन दर्शन जगत् की वस्तुओं को संख्या की दृष्टि से अनन्त स्वीकार करके भी स्वरूप की दृष्टि से उसे नित्यानित्य या सामान्यविशेषात्मक ही मानते हैं। भिक्षु न्याय कर्णिका में प्रमेय को परिभाषित करते हुए लिखा गया—**'प्रमाणस्य विषयः सदसन्नित्यानित्यसामान्यविशेषवाच्यावाच्याद्यनेकान्तात्मकं वस्तु'**— सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, वाच्य-अवाच्य आदि अनन्त धर्मात्मक वस्तु प्रमाण का विषय (प्रमेय) होती है।

इस सूत्र में प्रमेय के निम्न स्वरूप बतलाये गये हैं—

1. सत्-असत्,
2. नित्य-अनित्य,
3. सामान्य-विशेष,
4. वाच्य-अवाच्य।

सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि परस्पर अविनाभावी हैं अर्थात् एक-दूसरे के बिना नहीं रहते। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है।

3.1.1 सत्-असत् (Real and Unreal)

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है। उनमें एक धर्म है सत्-असत् का अविनाभाव। सत् के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए लिखा गया—**'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकं सत्'**— उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक पदार्थ को सत् कहा जाता है। उत्पाद और व्यय परिवर्तन के सूचक हैं तथा ध्रौव्य नित्यता का सूचक है।

उत्पाद (Origination)

'उत्तरोत्तराकाराणामुत्पत्तिः उत्पादः'— उत्तरोत्तर आकार की उत्पत्ति का नाम उत्पाद है। यथा दूध में जामन देने पर दही रूप पर्याय का उत्पाद हो गया। पर हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि स्वजाति (मूल द्रव्य) का परित्याग किये बिना भावान्तर (दूसरी अवस्था) का ग्रहण करना उत्पाद है। मिट्टी का पिण्ड घट पर्याय में परिणत होता हुआ भी मिट्टी ही रहता है। अतः मिट्टी रूप जाति का परित्याग किये बिना घटरूप भावान्तर का जो ग्रहण है, वही उत्पाद है।

व्यय (Destruction)

'पूर्वपूर्वाकाराणां विनाशः व्ययः'— पूर्व-पूर्व आकार के विनाश का नाम व्यय है। उत्पाद की भांति व्यय का स्वरूप बताते हुए कहा गया कि स्वजाति का परित्याग किये बिना पूर्वभाव (पर्याय) का जो विगम (नाश) है, वह व्यय है। घट की उत्पत्ति में पिण्ड की आकृति का विगम, व्यय का उदाहरण है। पिण्ड जब घट बनता है तो उसकी पूर्वाकृति पिण्ड का व्यय हो जाता है। इस व्यय में मिट्टी का नाश नहीं होता है, केवल आकृति का नाश होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ध्रौव्य (Permanence)

'एतद्वयपर्यायान्वयि एव ध्रौव्यं सद् उच्यते' — उत्पाद एवं व्यय इन दोनों पर्यायों में जो अन्वित होता है, हमेशा बना रहता है, उसे ध्रौव्य कहते हैं। उसी को सत् भी कहते हैं। उदाहरण के लिए पिण्डादि अनेक अवस्थाओं में मिट्टी का जो अन्वय है, वह ध्रौव्य है। इस प्रकार जैन दर्शन में सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक माना गया है और वही प्रमाण का विषय (प्रमेय) बनता है।

एकान्तवादी कुछ आचार्यों का वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक स्वरूप पर यह आक्षेप है कि उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य परस्पर विरोधी हैं। परस्पर विरोधी गुणधर्म वस्तु में एक साथ कैसे रह सकते हैं? इसका समाधान देते हुए जैन आचार्यों ने लिखा —

''घटमौली सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्।।''

इस श्लोक में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों एक साथ कैसे हो सकते हैं, इस बात को उदाहरण से समझाया गया है —

एक बार तीन व्यक्ति एक स्वर्णकार की दुकान पर पहुंचे। उस समय स्वर्णकार स्वर्णकलश को तोड़कर स्वर्णमुकुट बना रहा था। उन तीनों में से पहला व्यक्ति स्वर्णमुकुट चाहता था, दूसरा स्वर्णकलश चाहता था और तीसरा केवल स्वर्ण चाहता था। स्वर्णकार की प्रवृत्ति को देखकर पहले व्यक्ति को प्रसन्नता हुई क्योंकि वह स्वर्णमुकुट का उत्पाद देख रहा था। दूसरे व्यक्ति को दु:ख हुआ क्योंकि वह स्वर्णकलश का व्यय (नाश) देख रहा था और तीसरा व्यक्ति मध्यस्थ (तटस्थ) रहा क्योंकि उसे स्वर्ण चाहिए था और उसे वहां स्वर्ण ही दिखाई दे रहा था। इस प्रकार एक ही समय में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों बातें एक साथ दिखाई देती हैं। क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से त्रिगुणात्मक है। त्रिगुणात्मक वस्तु को ही सत् कहते हैं।

जिसमें सत् के लक्षण प्राप्त नहीं होते अर्थात् जो न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है और न ध्रुव रहता है, वह असत् होता है। जैसे — आकाशकुसुम। आकाश में फूल का अस्तित्व होता ही नहीं है, अत: आकाशकुसुम असत् का उदाहरण है।

3.1.2 नित्य-अनित्य (Permanent-cum-changeable)

वस्तु का एक धर्म है — नित्य-अनित्य का अविनाभाव। नित्य अनित्य का अविनाभावी है और अनित्य नित्य का अविनाभावी है। प्रत्येक वस्तु नित्यानित्य स्वभाव वाली है। **'सतोऽप्रच्युतिर्नित्यम्। परिणमनमनित्यम्।'** सत् (पदार्थ) के अप्रच्युति (अविनाशी) धर्म को नित्य कहा जाता है तथा परिणमन धर्म को अनित्य कहा जाता है। वस्तु अपने सत् स्वरूप से कभी च्युत नहीं होती। इस दृष्टि से वह नित्य है तथा वह भिन्न-भिन्न रूपों में परिवर्तित होती रहती है, इस दृष्टि से वह अनित्य है। आचार्य कुंदकुंद ने लिखा है कि कोई भी ऐसा सृजन नहीं है जहां ध्वंस न हो और कोई भी ऐसा ध्वंस नहीं है जहां सृजन न हो। कोई भी ऐसा सृजन या ध्वंस नहीं है जहां ध्रुवता या स्थिति न हो। पर्याय की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु प्रत्येक क्षण उत्पन्न हो रही है और नष्ट हो रही है। हम देखते हैं बच्चा जन्म लेता है, बड़ा होता है और मर जाता है। इसी प्रकार कोई वस्तु उत्पन्न होती है और नष्ट हो जाती है अत: व्यक्ति और वस्तु अनित्य प्रतीत होते हैं किंतु जिन परमाणुओं से वस्तु की संरचना हुई थी वे परमाणु कभी नष्ट नहीं होते या जिस आत्मा ने उस शरीर में प्राण-संचार किया था वह आत्मा कभी विनष्ट नहीं होती। जैन दर्शन के अनुसार संसार में जितने जीव और परमाणु हैं, वे त्रिकाल और त्रिलोक में हमेशा उतने ही रहेंगे। एक भी परमाणु या जीव कम अथवा ज्यादा नहीं हो सकता। जीव कभी अजीव नहीं बन सकता और अजीव कभी जीव नहीं बन सकता। मात्र उनकी पर्यायें (अवस्थायें) बदलती रहती हैं। अत: नित्यता का मूल आधार द्रव्य एवं अनित्यता का मूल आधार पर्याय है। द्रव्य की दृष्टि से वस्तु नित्य तथा पर्याय की दृष्टि से वह अनित्य है।

3.1.3 सामान्य-विशेष (Universal & Particular)

वस्तु का एक धर्म है सामान्य-विशेष का अविनाभाव। सामान्य विशेष का अविनाभावी है और विशेष सामान्य का अविनाभावी है। प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेष स्वभाव वाली है। सामान्य से रहित विशेष और विशेष से रहित सामान्य का कोई अस्तित्व नहीं होता। दोनों एक दूसरे के प्रति सापेक्ष हैं। **'अभेदप्रतीतेर्निमित्तं सामान्यम्। भेदप्रतीतेर्निमित्तं विशेष:।'** जिस धर्म के कारण वस्तु की अनेक अवस्थाओं में अभेद (एकत्व) की प्रतीति होती है, उसे सामान्य कहा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जाता है तथा जिस धर्म के कारण वस्तु में भेद (पृथकत्व) की प्रतीति होती है, उसे विशेष कहा जाता है। सामान्य दो प्रकार का होता है—

1. तिर्यक् सामान्य।

2. ऊर्ध्वता सामान्य।

1. तिर्यक् सामान्य— एक ही काल में स्थित अनेक स्थानों में रहने वाले अनेक पदार्थों में जो एकत्व या समानता की अनुभूति होती है, वह तिर्यक् सामान्य है। तिर्यक् सामान्य में बहुत व्यक्तियों में किसी समान धर्म की अपेक्षा से एकता की प्रतीति होती है। उदाहरणार्थ— बरगद, नीम, पीपल आदि अनेक वृक्षों में वृक्षत्व की समान प्रतीति होती है। इस उदाहरण में बरगद, नीम, पीपल आदि एक ही काल में अनेक स्थानों पर स्थित हैं, पर उनमें वृक्षत्व धर्म समान रूप से सभी वृक्षों में पाया जाता है अत: वृक्षत्व की दृष्टि से बरगद, नीम आदि सभी वृक्षों में अभेद की प्रतीति तिर्यक् सामान्य से हो रही है।

2. ऊर्ध्वता सामान्य— कालकृत नाना अवस्थाओं में एक ही द्रव्य की अनेक अवस्थाओं में जो एकत्व या समानता की अनुभूति होती है, वह ऊर्ध्वता सामान्य है। ऊर्ध्वता सामान्य में एक ही व्यक्ति की नाना अवस्थाओं में किसी समान धर्म की अपेक्षा से एकता की प्रतीति होती है। उदाहरणार्थ एक ही व्यक्ति की बचपन, यौवन, वृद्धावस्था आदि अनेक अवस्थाओं में पुरुषत्व की समान प्रतीति होती है। इस उदाहरण में बचपन, यौवन आदि एक ही व्यक्ति की अलग-अलग समय में होने वाली विविध अवस्थायें हैं पर पुरुषत्व धर्म हर अवस्था में समान रूप से पाया जाता है, अत: पुरुषत्व की दृष्टि से व्यक्ति की सभी अवस्थाओं में अभेद की प्रतीति ऊर्ध्वता सामान्य से हो रही है।

इस प्रकार तिर्यक् सामान्य दो द्रव्यों अथवा अनेक द्रव्यों की जातिगत एकता है और ऊर्ध्वता सामान्य एक ही द्रव्य की अनेक अवस्थाओं में पर्यायगत एकता है।

जिस प्रकार सामान्य दो प्रकार का है, उसी प्रकार विशेष के भी दो प्रकार हैं—

1. गुण, 2. पर्याय।

1. गुण— वस्तु का सहभावी (हमेशा साथ रहने वाला) धर्म गुण कहलाता है। जैसे— आत्मा में ज्ञान। ज्ञान आत्मा का विशेष गुण है और वह हमेशा आत्मा के साथ रहता है।

2. पर्याय— वस्तु का क्रमभावी (क्रमश: बदलता रहने वाला) धर्म पर्याय कहलाता है, जैसे आत्मा में सुख-दु:ख आदि। सुख दु:ख आदि आत्मा में सदा नहीं होते, ये क्रमश: बदलते रहते हैं।

3.1.4 वाच्य-अवाच्य (Articulatable-Unarticulatable)

वस्तु का एक धर्म है— वाच्य-अवाच्य का अविनाभाव। वाच्य-अवाच्य का अविनाभावी है और अवाच्य वाच्य का अविनाभावी है। **'वाग्गोचरं वाच्यम्। वाचामविषयमवाच्यम्'**— जो वाणी का विषय बने उसे वाच्य कहा जाता है और जो वाणी का विषय न बने, उसे अवाच्य कहा जाता है।

वस्तु में अनन्त धर्म हैं। एक समय में युगपत् (एक साथ) अनन्त धर्मों का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता क्योंकि भाषा की अपनी सीमा है। अत: सभी धर्मों के युगपत् कथन की अपेक्षा वस्तु अवाच्य है।

एक क्षण में एक धर्म का प्रतिपादन किया जा सकता है। अनेक क्षणों में क्रमश: अनेक धर्मों का भी प्रतिपादन किया जा सकता है, इस आंशिक प्रतिपादन की अपेक्षा से वस्तु वाच्य है।

इस प्रकार जैन दर्शन में प्रमेय का स्वरूप सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष एवं वाच्य-अवाच्य रूप माना गया है। आचार्य हेमचंद्र ने अन्ययोगव्यवच्छेदिका में लिखा है—

आदीपमाव्योमसमस्वभावं, स्याद्वादमुद्रानतिभेदिवस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति, त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापा:।।

दीपक से लेकर आकाश तक सभी पदार्थ नित्यानित्य स्वभाव वाले हैं। कोई भी पदार्थ इस मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता। जड़-चेतन सभी पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप हैं, द्रव्यपर्याय रूप हैं। केवल द्रव्यात्मक या केवल पर्यायात्मक वस्तु का अस्तित्व ही नहीं होता। द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय बनती है। द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु ही प्रमाण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का विषय क्यों बनती है? इसका समाधान है **'अर्थक्रियासामर्थ्यात्'** वस्तु का लक्षण है अर्थक्रिया से युक्त होना और अर्थक्रिया का सामर्थ्य द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु में ही होता है। केवल द्रव्य रूप वस्तु या केवल पर्याय रूप वस्तु में अर्थक्रिया संभव न हो पाने के कारण उनका अस्तित्व ही संभव नहीं है। अत: प्रमेय को केवल द्रव्य या केवल पर्यायरूप मानना अथवा कूटस्थ नित्य या निरन्वय विनाशी मानना उचित नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार प्रमेय न केवल द्रव्यरूप है और न केवल पर्यायरूप है अपितु प्रमेय द्रव्यपर्याय, नित्यानित्य एवं सामान्यविशेष रूप है।

बोध प्रश्न

प्रश्न–1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. न्याय किसे कहते हैं? लक्षण और लक्षणाभास को स्पष्ट करें।
2. जैन दर्शन के अनुसार प्रमेय का क्या स्वरूप है, विस्तार से समझाएँ?

प्रश्न–2. लघूत्तरात्मक प्रश्न (टिप्पणी)

1. अर्थसिद्धि के तीन रूप
2. न्यायशास्त्र की उपयोगिता
3. सामान्य-विशेष

प्रश्न–3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. न्याय किसे कहते हैं?
2. लक्षण किसे कहते हैं?
3. लक्षणाभास किसे कहते हैं?
4. प्रमेय का स्वरूप क्या है?
5. ऊर्ध्वता सामान्य किसे कहते हैं?

4.1 प्रमिति (प्रमाण का फल)
(Authentic Knowiedge (Result of Valid Cognition))

न्याय के चार अंगों में तीसरा अंग है — प्रमिति। दर्शन जगत् में प्रमाण और प्रमेय की भांति प्रमिति (प्रमाण-फल) की चर्चा भी अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। जैन दर्शन आत्मवादी होने के कारण आत्मा को प्रमाता मानता है। ज्ञान आत्मा का गुण है और वह प्रमा (जानने) का साधकतम उपकरण है, इसलिए ज्ञान को प्रमाण मानता है। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है इसलिए ज्ञान को ही प्रमिति (प्रमाण-फल) मानता है। अत: जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान ही प्रमाण है और ज्ञान ही प्रमिति है। जैन दर्शन में प्रमाण के दो फल माने गये हैं —

1. अनन्तर फल,
2. परम्पर फल।

4.1.1 अनन्तर फल (Direct or main result)

अनन्तर अर्थात् साक्षात् फल (मुख्य फल)। **'प्रमाणस्य फलमर्थबोध:'** प्रमाण का साक्षात् फल है — पदार्थ का बोध होना, ज्ञान होना। प्रमाण मीमांसा में आचार्य हेमचन्द्र ने अर्थबोध के साथ-साथ अज्ञान-निवृत्ति को भी प्रमाण का साक्षात् फल बतलाया है।

जैन दर्शन में ज्ञान का आविर्भाव (प्रकटीकरण) ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से माना गया है। उसमें पदार्थ, प्रकाश आदि को कारण नहीं माना गया। जैन दार्शनिकों का मंतव्य है कि पदार्थ की उपस्थिति में भी उसका ज्ञान नहीं होता है, यदि तत्सम्बद्ध ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम न हो। इसलिए जैन दार्शनिकों ने विषय के ज्ञान को सीधा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रमाणफल न कहकर तत्सम्बद्ध अज्ञाननिवृत्ति को प्रमाण का फल कहा है। उदाहरणार्थ हमें घट (घड़ा) का ज्ञान हुआ है। इसका अर्थ है — हमारी घट-सम्बंधी अज्ञान की निवृत्ति हुई है। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान आदि समस्त प्रमाणों का साक्षात् फल जैन दर्शन में अज्ञाननिवृत्ति को माना गया है।

4.2.2 परम्पर फल (Secondary result)

परम्पर अर्थात् गौण फल, अनन्तर के बाद होने वाला फल। प्रमाण का परम्पर फल हान (हेय) उपादन (उपादेय) और उपेक्षा (मध्यस्थ) बुद्धि है। वस्तु का ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञाता को वह यदि अहितकारी प्रतीत होती है तो वह उसे छोड़ देता है अर्थात् उस वस्तु के प्रति उसकी हान बुद्धि पैदा होती है। वस्तु यदि हितकारी प्रतीत होती है तो वह उसे ग्रहण कर लेता है अर्थात् उस वस्तु के प्रति उसकी उपादान बुद्धि पैदा होती है तथा उस वस्तु से यदि उसका कोई प्रयोजन नहीं होता तो वह उसकी उपेक्षा कर देता है अर्थात् उसके प्रति तटस्थ (मध्यस्थ) बुद्धि रखता है।

मति, श्रुत आदि ज्ञानों में हान, उपादान और उपेक्षा तीनों बुद्धियां फल होती हैं तथा केवलज्ञान का फल मात्र उपेक्षा बुद्धि ही है। क्योंकि केवलज्ञानी वीतरागी होते हैं अत: उनके राग-द्वेष से होने वाली हान-उपादान बुद्धि नहीं होती जैसाकि न्यायावतार में लिखा है —

''प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम्।
केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहान धी:।''

प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान की निवृत्ति है। केवलज्ञान का साक्षात् फल उपेक्षा बुद्धि है तथा शेष मति, श्रुत आदि ज्ञानों का फल हान और उपादान बुद्धि है।

इस प्रकार प्रमाण का फल दो प्रकार का है — एक साक्षात् फल अर्थात् प्रमाण से अभिन्न फल और दूसरा गौण फल अर्थात् प्रमाण से भिन्न फल। प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है और परम्पर फल हान, उपादान, उपेक्षा बुद्धि है। इसे निम्नलिखित चार्ट से समझा जा सकता है —

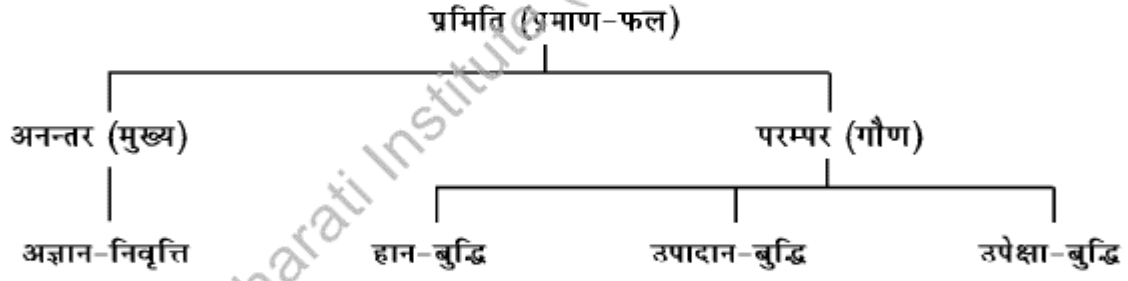

जैन दर्शन में प्रमाण और प्रमिति (फल) दोनों को ज्ञानरूप स्वीकार किया गया है। दोनों को ज्ञानात्मक स्वीकार करने पर यह समस्या उठती है कि प्रमाण एवं प्रमिति दोनों ही जब ज्ञानात्मक हैं तो उनमें फिर भेद क्या हुआ? दोनों के ज्ञानात्मक होने से फिर तो उनमें अभेद ही होना चाहिए।

4.2 प्रमाण और प्रमिति का भेदाभेद (Similarity and Difference between Valid Cognition and Result of it)

जैन दर्शन अनेकान्तवादी है अत: वह अनेकान्त के आधार पर प्रमाण और प्रमिति दोनों में न सर्वथा भेद और न सर्वथा अभेद अपितु भेदाभेद सिद्ध करता है। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा — **'प्रमाणाद्भिन्नाभिन्नम्'** — प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। जैन दार्शनिक कहते हैं कि यद्यपि प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति स्वपरव्यवसायी ज्ञान से अभिन्न प्रतीत होता है, किंतु प्रमाण जानने का साधन एवं अज्ञाननिवृत्ति स्वपरव्यवसिति रूप ज्ञान साध्य है। **'साध्यसाधनभावेन तयोर्भेद:'** — साध्य और साधन भाव की अपेक्षा से प्रमाण और प्रमिति (फल) भिन्न हैं। प्रमाण साधन है और प्रमिति साध्य है अत: दोनों में कथंचित् भेद है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रमाण और प्रमिति दोनों ज्ञानात्मक हैं और ज्ञानात्मक होने के कारण यदि उनमें एकान्त अभेद माना जाये तो या तो साधन (प्रमाण) होगा या साध्य (प्रमिति) होगा। दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व संभव नहीं होगा। अत: प्रमाण और प्रमिति में एकान्त अभेद न होकर कथंचित अभेद है। यद्यपि हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धि प्रमाण से भिन्न प्रतीत होती है तथापि **'एक प्रमातृ तादात्म्येन चाभेद:'**— एक ही प्रमाता द्वारा प्रमाण एवं हान-उपादान-उपेक्षा-बुद्धि रूप फल की प्रतीति होती है, इसलिए उनमें कथंचित् अभेद भी है। एक ही प्रमाता में आत्मगत होने के कारण प्रमाण और प्रमिति अभिन्न हैं। तात्पर्य यही है कि प्रमाण रूप में परिणित आत्मा ही फल रूप में परिणित होती है अत: एक प्रमाता की अपेक्षा से दोनों में अभेद घटित होता है।

जैन आचार्यों का यह मंतव्य है कि यदि प्रमाण और फल को कथंचित भिन्न एवं कथंचित् अभिन्न न माना जाये तो प्रमाण और फल की व्यवस्था ही नहीं बन सकती। जैन दर्शन में प्रमेय दो प्रकार के माने गये हैं— स्व एवं पर। जब ज्ञान ही प्रमेय हो तो वह 'स्व' तथा जब बाह्य पदार्थ प्रमेय हो तो उसे 'पर' कहा जाता है। ज्ञान को परप्रकाशक मानने के साथ-साथ स्वप्रकाशक भी माना गया है। इसलिए कभी ज्ञान भी प्रमेय रूप हो सकता है। ज्ञान को प्रमेय मान लेने पर प्रमेय, प्रमाण, प्रमिति एवं प्रमाता सभी ज्ञानात्मक हो जाते हैं तथापि जैन दार्शनिक व्यवस्था की दृष्टि से इन चारों में साध्य, साधन, कार्य एवं कर्त्ता के रूप में कथंचित भेद स्वीकार करते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण से प्रमाण का फल न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न है अपितु भिन्नाभिन्न है।

जैन दर्शन में ज्ञान को प्रमाण माना गया है और ज्ञान को ही फल माना गया है। इस दृष्टि से जैन चिंतकों ने अवग्रह आदि ज्ञान के भेदों में भी प्रमाण और फल की व्यवस्था करते हुए लिखा है— **'अवग्रहादीनां क्रमिकत्वात् पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम्'** अर्थात् अवग्रह आदि क्रमिक होते हैं इसलिए उनमें पूर्व-पूर्ववर्ती ज्ञान प्रमाण और उत्तर उत्तरवर्ती ज्ञान फल होते हैं। जैसे— अवग्रह प्रमाण है और ईहा उसका फल है। इसी प्रकार ईहा प्रमाण और अवाय उसका फल, अवाय प्रमाण और धारणा उसका फल, धारणा प्रमाण और स्मृति उसका फल, स्मृति प्रमाण और प्रत्यभिज्ञा उसका फल, प्रत्यभिज्ञा प्रमाण और तर्क उसका फल तथा तर्क प्रमाण और अनुमान उसका फल है। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान प्रमाण भी है और फल भी है।

जैन दर्शन में प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति एवं गौण फल हान-उपादान-उपेक्षा बुद्धि माना गया है तथा प्रमाण एवं प्रमाण-फल में न एकान्त भेद और न एकान्त अभेद अपितु कथंचित् भेदाभेद माना गया है।

5.1 प्रमाता (Knower)

न्याय का चौथा अंग है— प्रमाता (आत्मा)। भारतीय दर्शन जगत् का प्राण तत्त्व है— आत्मा। आत्मा के अस्तित्व, उसके स्वरूप आदि के बारे में भारतीय चिंतकों ने प्रभूत विमर्श किया है। आत्मा को केन्द्र में रखकर दो प्रकार की विचारधाराएं विकसित हुई। एक वह जो आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार करती है और दूसरी वह जो आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती। चार्वाक के अतिरिक्त समस्त भारतीय चिंतकों ने आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार किया है। न्याययुग में आत्मा को ही प्रमाता के रूप में जाना गया है अर्थात् आत्मा के लिए प्रमाता शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रमाता को परिभाषित करते हुए कहा गया— **'स्वपरावभासी परिणामी आत्मा प्रमाता। स्वपरावभासी प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा प्रमाता।'** इन परिभाषाओं में प्रमाता के तीन लक्षण बताये गये हैं—

1. प्रमाता का स्व-परप्रकाशी होना।
2. प्रमाता का परिणामीनित्य होना।
3. प्रमाता का प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञान होना।

5.1.1 प्रमाता का स्व-परप्रकाशी होना (The Knower being self-cummalien enlighting)

भारतीय दर्शन में आत्मा के स्वरूप के संबंध में दार्शनिकों में परस्पर मतभेद पाया जाता है। कुछ दर्शन जैसे— अद्वैत वेदान्त, सांख्य-योग, बौद्ध आदि आत्मा को स्वप्रकाशी मानते हैं। इनके अनुसार आत्मा स्वप्रकाशी है, पर-प्रकाशी नहीं। मीमांसा, न्याय-वैशेषिक आदि कुछ दर्शन आत्मा को परप्रकाशी मानते हैं, स्वप्रकाशी नहीं। स्वप्रकाशी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

से तात्पर्य अपने आपको जानने वाला तथा परप्रकाशी से तात्पर्य दूसरों को जानने वाला है। जैन दर्शन ने इन दोनों के बीच समन्वय स्थापित किया और आत्मा को न केवल स्वप्रकाशी और न केवल परप्रकाशी अपितु स्वपरप्रकाशी माना। इस विषय में उनका अभिमत है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान स्व-परप्रकाशक है इसलिए आत्मा भी स्व-परप्रकाशक है। जिस प्रकार सूर्य या दीपक अपने आपको प्रकाशित करता है और दूसरे पदार्थों घट-पट आदि को भी प्रकाशित करता है अत: वह स्व-परप्रकाशी होता है। उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं तथा पर पदार्थों को प्रकाशित करने के कारण स्व-परप्रकाशी है। जो स्वप्रकाशी नहीं होता वह परप्रकाशी भी नहीं हो सकता, जैसे — घट। घट जड़ होने के कारण अपने आपको भी प्रकाशित नहीं कर सकता और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित नहीं कर सकता। आत्मा ज्ञानस्वरूप होने के कारण स्व-परप्रकाशक है। अत: सूत्र में स्वपरावभावी या स्वपरप्रकाशी विशेषण उन लोगों के मत का खण्डन करने के लिए है, जो आत्मा को केवल स्वप्रकाशी या केवल परप्रकाशी मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाता स्व-परप्रकाशी है।

5.1.2 प्रमाता का परिणामीनित्य होना (The knower being changeable-cum-constant)

प्रमाता का दूसरा लक्षण है — परिणामीनित्य। जो वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप हो वह परिणामी कहलाती है। आत्मा (प्रमाता) परिणामी है। यह 'परिणामी' विशेषण उन लोगों के मत के निराकरण के लिए दिया है जो प्रमाता को कूटस्थ नित्य या क्षणिक मानते हैं। भारतीय दर्शन में न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त आदि आत्मा को अपरिणामी (कूटस्थ नित्य) मानते हैं। अपरिणामी का तात्पर्य है कि उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, वह सदा एकरूप रहता है, नित्य है। नित्य को परिभाषित करते हुए वे लिखते भी हैं — **'अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्'** — जो अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर और एकरूप होता है वह नित्य कहलाता है। इसके विपरीत बौद्धदर्शन में आत्मा को अनित्य माना गया है। प्रतिक्षण उसका निरन्वय विनाश (संपूर्ण नाश) होता रहता है। उसमें स्थायित्व नाम का कोई तत्त्व नहीं है।

जैन दर्शन आत्मा को न तो कूटस्थ नित्य मानता है और न निरन्वय (पूर्ण) विनाशी ही मानता है। उसके अनुसार आत्मा परिणामीनित्य अर्थात् नित्यानित्य स्वभाव वाली है। यदि आत्मा को सर्वथा कूटस्थ नित्य माना जायेगा तो उसमें किसी भी प्रकार का विकार न होने के कारण, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन न होने के कारण वह सदैव एकरूप ही रहेगा। उसमें बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था आदि अवस्थाएं घटित नहीं हो सकेंगी। कूटस्थ नित्य आत्मा में किसी भी प्रकार की अर्थक्रिया संभव न होने के कारण वह अवस्तु ही सिद्ध हो जायेगी। यदि उसमें किसी प्रकार की अर्थक्रिया होती है तो इसका मतलब उसे अपनी पूर्व अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्था धारण करनी पड़ती है। किंतु एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था का धारण कूटस्थ नित्यवाद में संभव ही नहीं हो सकता।

यदि आत्मा को निरन्वय विनाशी माना जाये तो वह भी ठीक नहीं है। जिस प्रकार मिट्टी से बने हुए शिवक, स्थास, कोष, कुशूल, घट आदि घट की समस्त पर्यायों (अवस्थाओं) में मिट्टी द्रव्य रहता है। उसी प्रकार बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था आदि अनेक अवस्थाओं में आत्मद्रव्य अन्वित रहता है, उसका नाश नहीं होता। आत्मा को क्षणिक मानने पर किये गये कार्यों का विनाश हो जायेगा अर्थात् जो कर्म जिस क्षण में किये थे वे कर्म उसी क्षण के साथ नष्ट हो जायेंगे अत: व्यक्ति को अपने किये गये कर्मों का फल भी नहीं मिल सकेगा। जबकि कर्मवाद का यह सिद्धान्त है कि व्यक्ति को अपने किये गये कर्मों का फल अवश्य मिलता है। **'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि'** — कृतकर्मों को भोगे बिना मोक्ष नहीं होता। इसके अतिरिक्त आत्मा को क्षणिक मानने पर उसका पुनर्जन्म, मोक्ष आदि भी संभव नहीं हो सकेगा।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा को कूटस्थ नित्य या क्षणिक न मानकर परिणामी नित्य (नित्यानित्य) स्वभाव वाला मानना चाहिए। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप वाला मानना चाहिए। आत्मा उत्पाद-व्यय की अपेक्षा अनित्य है तथा ध्रौव्य की अपेक्षा नित्य है। पर्याय की अपेक्षा अनित्य है और द्रव्य की अपेक्षा नित्य है। आत्मा बाल्यावस्था से युवावस्था और युवावस्था से वृद्धावस्था को प्राप्त करता रहता है तथा कर्मों के अनुसार मनुष्यगति, नरकगति, तिर्यंचगति और देवगति को भी प्राप्त करता रहता है। इन अवस्थाओं की अपेक्षा आत्मा अनित्य है क्योंकि ये अवस्थाएं सदा नहीं रहती किंतु इन सभी अवस्थाओं में जो आत्म द्रव्य है वह हमेशा बना रहता है, उसका कभी नाश नहीं होता। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में या एक भव से दूसरे भव (जन्म) में जाने पर भी उस आत्म द्रव्य का नाश नहीं होता, अत: आत्मा नित्य है। आत्मा को एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य मानने वाले मतों का निराकरण करने के लिए ही जैन दर्शन में प्रमाता का एक लक्षण परिणामीनित्य दिया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.1.3 प्रमाण द्वारा प्रमाता की सिद्धि (Proving the knower with the help of valid cognition)

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा अमूर्त्त है अत: वह इन्द्रियातीत पदार्थ है। आचारांग में आत्मा के स्वरूप को बताते हुए लिखा है — **'सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मइ तत्थ न गाहिया'** — आत्मा का स्वरूप शब्दातीत एवं तर्कातीत है। वह बुद्धि का विषय भी नहीं बन सकती। वह न दीर्घ है, न ह्रस्व। न त्रिकोण है, न चतुष्कोण। न कृष्ण है, न शुक्ल। न स्त्री है और न पुरुष। आत्मा को उपमा से नहीं बताया जा सकता, वह अरूपी सत्ता है। वह इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं है। वह स्वानुभव का विषय है। अनुभव स्वसंवेद्य होता है। किंतु फिर भी दूसरों को समझाने के लिए परोक्ष ज्ञान भी उपयोगी बनता है। इसलिए सूक्ष्म या स्थूल, मूर्त्त या अमूर्त्त किसी भी द्रव्य के अस्तित्व या नास्तित्व का समर्थन तर्क के द्वारा करने की परम्परा प्रचलित रही है। आत्मा के स्वसंवेद्य होने पर भी तर्क, प्रमाण आदि के द्वारा उसका अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयास दार्शनिकों ने किया है। जब-जब अनात्मवादी दार्शनिकों ने आत्मा का नकारते हुए उसके नास्तित्व की सिद्धि के लिए हेतु प्रस्तुत किये तब-तब प्रतिवादस्वरूप आत्मवादियों ने भी हेतु प्रस्तुत किये और प्रमाण के द्वारा उसका अस्तित्व सिद्ध किया।

5.3 अनात्मवादियों के द्वारा आत्मा के नास्तित्व की सिद्धि (Refutation of Existence of Soul by Atheists)

भूतवादी दार्शनिक भूतों से भिन्न आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच भूतों के मिलने से चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती है। वह चैतन्य शक्ति जन्म से पहले और मरण के बाद नहीं रहती। शरीरपर्यन्त ही जीवन है। जो शरीर और आत्मा को भिन्न मानते हैं उनका मत ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर से भिन्न आत्मा दृष्टिगोचर ही नहीं होती। आत्मा को कोई भी शरीर से पृथक् करके नहीं दिखा सकता, जैसे — कोई पुरुष म्यान से तलवार निकालकर दिखा सकता है कि यह म्यान है और यह तलवार है, वैसे ही यह शरीर है और यह आत्मा है ऐसा कोई नहीं दिखा सकता। तिल से तेल, दही से नवनीत, ईख से रस, अरणी से आग निकालकर पृथक् रूप से दिखाया जा सकता है, वैसे आत्मा को शरीर से अलग करके नहीं दिखाया जा सकता अत: शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व नहीं है।

अनात्मवादियों ने प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भी आत्मा का अभाव सिद्ध किया है —

✲ आत्मा का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि उसका इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता। घट का अस्तित्व है क्योंकि वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय है। आत्मा सत् नहीं है क्योंकि वह घट के समान इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ग्रहण करने योग्य नहीं है। जो इन्द्रियग्राह्य नहीं होता वह असत् होता है, जैसे — आकाशकुसुम। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

✲ आत्मा अनुमान प्रमाण का विषय भी नहीं बन सकती, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है। प्रत्यक्ष से हम साधन (लिंग) को देखते हैं और फिर साध्य का अनुमान करते हैं। जैसे प्रत्यक्ष से हम पर्वत पर धुआं देखते हैं और वहां अग्नि होने का अनुमान करते हैं पर आत्मा को जानने के लिए हमें कोई भी ऐसा लिंग नहीं दिखाई देता जिससे कि हम आत्मा का अनुमान कर सकें। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

✲ आगम प्रमाण से भी आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि जिसका प्रत्यक्ष ही नहीं होता वह आगम का विषय कैसे बन सकता है? आगम में कथित बातें भी परस्पर में विरोधी पायी जाती हैं अत: उसे प्रमाण भी कैसे माना जा सकता है।

अत: किसी भी प्रमाण से आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

5.4 आत्मा की प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्धि (Poroving the Existence of Soul Through Valid Cognition)

आत्मवादी दार्शनिक पांच भूतों से पृथक् आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करते हैं तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध भी करते हैं। भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष चार प्रकार का माना गया है —

1. इन्द्रिय प्रत्यक्ष, 2. मानस प्रत्यक्ष,
3. योगज प्रत्यक्ष, 4. स्वसंवेदन प्रत्यक्ष।

प्रथम दो प्रत्यक्ष आत्मा को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हैं। योगजप्रत्यक्ष अर्थात् योग साधना से होने वाला प्रत्यक्ष। यह योगज प्रत्यक्ष भी हमसे परोक्ष होने के कारण हमारी बुद्धि का विषय नहीं है। चतुर्थ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा की सिद्धि होती है। मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ — इस प्रकार का ज्ञान आत्मा के होने पर ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इन्द्रिय प्रत्यक्ष आत्मा को नहीं जानता, लेकिन इतने मात्र से आत्मा के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। इन्द्रिय से तो हम दो-तीन पीढ़ी पूर्व के पूर्वजों को भी नहीं जानते पर क्या इतने मात्र से उनका अभाव हो जायेगा। हमारे न जानने पर भी पूर्वजों का अस्तित्व होता है। आत्मा अमूर्त्त है अत: इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है। भगवान् महावीर ने कहा — **'नो इन्दियगेज्झ अमुत्तभावा'** — अमूर्त्त पदार्थ इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है। जिस प्रकार मूर्त्त पदार्थों को भी जो सूक्ष्म, दूरवर्ती एवं व्यवहित हैं उन्हें भी हमारी इन्द्रियां नहीं जानती पर उनका अस्तित्व होता है। उसी प्रकार इन्द्रिय ग्राह्य न होने पर भी आत्मा का अस्तित्व अवश्य है। इस प्रकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

* अनुमान प्रमाण से भी आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध होता है। आत्मा का अनुमान चैतन्य लिंग की उपलब्धि से होता है। आत्मा गुणी है। चैतन्य उसका गुण है। चैतन्य गुण हमारे प्रत्यक्ष है किन्तु आत्मा जो गुणी है, वह परोक्ष है। परोक्ष गुणी की सत्ता प्रत्यक्ष गुण से प्रमाणित हो जाती है। जैसे — कमरे में बैठा हुआ आदमी सूर्य को नहीं देखता, फिर भी वह प्रकाश और धूप के द्वारा अदृष्ट सूर्य को जान लेता है। उसी प्रकार अदृष्ट आत्मा चैतन्य लिंग के द्वारा जान ली जाती है।

* आगम में भी आत्मा को सिद्ध करने वाले अनेक सूत्र मिलते हैं। दसवैकालिक में कहा गया है — **'सव्वे जीवावि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं'** अर्थात् सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। **'अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए'** अर्थात् पृथ्वी, अप, तैजस आदि छ: काय के जीवों को अपनी आत्मा के समान मानो आदि।

तर्कशास्त्र का नियम है कि सत् सप्रतिपक्ष होता है। **'यत्सत् तत्सप्रतिपक्षम्'** — जो सत् है वह सप्रतिपक्ष है। जिसके प्रतिपक्ष का अस्तित्व नहीं होता उसके अस्तित्व को तार्किक समर्थन भी नहीं मिल सकता। यदि चेतन नामक सत्ता नहीं होती तो अचेतन सत्ता का नामकरण और बोध भी नहीं होता। इस प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। इसके अतिरिक्त आत्मा को सिद्ध करने वाले और भी अनेक हेतु उपलब्ध होते हैं —

1. पुनर्जन्म का सद्भाव (Existence of Re-birth)

आत्मा के अस्तित्व का एक हेतु है — पुनर्जन्म का सद्भाव। राग और द्वेष ये दो कर्मबीज हैं जिनके कारण आत्मा बार-बार इस संसार में परिभ्रमण करती रहती है, उसका बार-बार जन्म-मरण होता रहता है। पुनर्जन्म का सद्भाव शरीर के प्रति होने वाले चैतसिक आग्रह से भी सिद्ध होता है। नवजात शिशु में भी अपने शरीर के प्रति विशेष प्रकार का लगाव होता है। उसकी हर्ष, भय, शोक, मां का स्तनपान आदि क्रियाएं पुनर्जन्म के सिद्धान्त को सिद्ध करती हैं क्योंकि उसने इस जन्म में तो हर्षादि का अनुभव किया ही नहीं है। ये क्रियाएं पूर्वाभ्यास से ही संभव है। अत: इससे पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

2. जन्मजात विलक्षण प्रतिभा (Inherent Supra-Intellect)

जन्मजात विलक्षण प्रतिभा से भी पुनर्जन्म की सिद्धि होती है। हम देखते हैं कि कुछ बच्चे जन्म से ही बहुत प्रतिभासंपन्न होते हैं तो कुछ बच्चे मंदबुद्धि वाले या अज्ञानी। इसका कारण भी उसका पूर्वजन्म में किया गया अभ्यास या अनभ्यास ही है।

3. संकलनात्मक ज्ञान (Compilation of Knowledge)

इन्द्रियां अपने-अपने विषय को ग्रहण कर सकती हैं पर उनका संकलनात्मक ज्ञान वे नहीं कर सकती, जबकि हमें 'मैं स्पर्श, रस, रूप आदि को जानता हूं' ऐसे संकलनात्मक ज्ञान की प्रतीति होती है और जो यह ज्ञान करती है, वही आत्मा है।

इस प्रकार जैन आचार्यों ने आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया तथा भूतात्मवादियों द्वारा मान्य 'भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है' इसका निराकरण भी किया।

भूतात्मवाद का निराकरण (Refutation of Emergence of Soul through Physical entities)

जैन दर्शन के अनुसार भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं। यदि भूतों से ही चैतन्य की उत्पत्ति होती तो हर क्षण जीवों की उत्पत्ति होती रहनी चाहिए, पर ऐसा नहीं होता।

दूसरी बात यदि भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति होती है तो मृतक में भी चैतन्य मानना चाहिए क्योंकि मृतक के शरीर में भी पांचों भूत विद्यमान है। यदि भूतवादी कहें कि मृत व्यक्ति में रक्त का संचार नहीं होता अत: उसमें चैतन्य नहीं रहता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि सुप्त व्यक्ति में रक्त का संचार होने पर भी भूतवादी (चार्वाक) उसमें चेतना नहीं मानता।

भूत जड़रूप है, आत्मा चैतन्य रूप है अत: जड़ से चैतन्य कैसे पैदा हो सकता है? जैसा उपादान कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। उपादान की मर्यादा को जानने वाला जड़ लक्षण वाले भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति को स्वीकार नहीं कर सकता। जिस प्रकार बालू के कणों में तेल होता ही नहीं है तो सैकड़ों मण बालुकणों के मिलने पर भी तेल की प्राप्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार भूतों में चैतन्य होता ही नहीं है तो उन भूतों के परस्पर मिलने पर भी चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

भूतवादी देह नाश के साथ ही आत्मा का विनाश मानते हैं। यह भी ठीक नहीं है। ऐसा मानने पर तीन बड़ी आपत्तियां आती हैं—

1. मोक्ष प्राप्ति के लिए की जाने वाली ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, संयम आदि की साधना निष्फल हो जायेगी। क्योंकि शरीर नाश के साथ ही आत्मा का नाश हो जाने से इनका फल किसे मिलेगा।

2. किसी भी व्यक्ति को दान, सेवा, परोपकार आदि पुण्य कार्यों का फल नहीं मिलेगा।

3. तीसरी, जो सबसे बड़ी आपत्ति आयेगी वह यह है कि सारे संसार में अव्यवस्था फैल जायेगी। व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी और पापकर्म नि:संकोच होकर करेंगे। उन्हें यह भय नहीं रहेगा कि इन कर्मों के फलस्वरूप हमारी गति बिगड़ भी सकती है।

अतएव यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि भूतों से अतिरिक्त भी आत्मा का अस्तित्व है और वह स्वपरावभासी, परिणामी नित्यत्व तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है।

6.1 अभाव (Non-existence)

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है। उन अनन्त विरोधी धर्मों में एक युगल है — अस्तित्व-नास्तित्व का अविनाभाव। संसार का हर पदार्थ अस्तित्ववान होता है, उसी प्रकार नास्तित्ववान भी होता है। वर्तमान पर्याय का अस्तित्व होता है तथा भूत और भावी पर्यायों का नास्तित्व होता है। अस्तित्व और नास्तित्व के लिए 'भाव' और 'अभाव' शब्द का प्रयोग भी मिलता है।

किसी भी वस्तु के स्वरूप को सिद्ध करने के लिए भाव का जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, अभाव का भी उससे कम नहीं है। भाव के बिना वस्तु की स्वतंत्र सत्ता नहीं होती, उसी प्रकार अभाव के बिना भी नहीं होती। यदि हम वस्तु के केवल भाव रूप को स्वीकार करें और अभाव रूप को स्वीकार न करें तो उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन घटित नहीं हो सकता। संसार का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो सदा एक जैसा रहे। पदार्थ उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है पर उसकी सत्ता कभी समाप्त नहीं होती। वस्तु को भावरूप मानने के साथ-साथ अभावरूप भी मानना चाहिए। अभाव को माने बिना उत्पाद और नाश की बात समझ में नहीं आती।

यदि अभाव को नहीं माना जायेगा तो वस्तु में किसी प्रकार का विकार (परिवर्तन) ही नहीं हो सकेगा, उसका कभी अन्त ही नहीं हो सकेगा। वह सर्वात्मक बन जायेगी, जिससे चेतन और अचेतन का भेद ही समाप्त हो जायेगा इसलिए भाव के साथ-साथ अभाव को मानना भी आवश्यक है।

6.2 अभाव के प्रकार (Types of Non-existence)

अभाव के चार प्रकार बतलाये गये हैं—

1. प्राग् अभाव।
2. प्रध्वंस अभाव।
3. इतरेतर अभाव।
4. अत्यन्त अभाव।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

6.2.1 प्राग् अभाव (Prior Non-existence)

प्राग् अभाव को परिभाषित करते हुए लिखा गया—**'उत्पत्तेः पूर्वं कारणे कार्यस्याऽसत्वं प्राक्'**—उत्पत्ति से पहले कारण में कार्य का अभाव होना प्राग् अभाव है, जैसे—दूध कारण है और दही उसका कार्य है किंतु जब तक दूध से दही उत्पन्न नहीं होता, तब तक दूध में दही का अभाव रहता है। यह प्राग् अभाव का उदाहरण है। यह अनादि (आदि रहित) और सान्त (अन्त सहित) होता है अर्थात् दूध में दही का अभाव अनादि काल से होता है पर वह अनन्त काल तक नहीं होता। जिस दिन दूध से दही जमा दिया जाता है उस दिन उस प्राग् अभाव का अन्त हो जाता है। अतः यह अनादि और सान्त है।

6.2.2 प्रध्वंस अभाव (Distructional-non-existence)

प्रध्वंस अभाव को परिभाषित करते हुए लिखा गया—**'लब्धात्मलाभस्य विनाशः प्रध्वंसः'**—कार्य की उत्पत्ति के बाद उस कार्य के विनाश से होने वाले अभाव का नाम प्रध्वंस अभाव है, जैसे—दही से छाछ बना लेने पर छाछ में दही का अभाव हो जाना प्रध्वंस अभाव है। यह अभाव सादि और अनन्त है। अर्थात् दही से छाछ बनाने की आदि (प्रारम्भ) तो है पर छाछ में उस दही का अभाव अनन्त काल तक रहेगा। भविष्य में कभी भी वह छाछ, वही दहीं नहीं बन सकता अतः यह सादि और अनन्त है।

6.2.3 इतरेतर अभाव (Mutual-non-existence)

इतरेतर को परिभाषित करते हुए लिखा गया—**'परस्परापोह इतरेतरः'**—एक द्रव्य की पर्याय में दूसरे द्रव्य की पर्याय का न होना इतरेतर अभाव है, जैसे—खम्भे में घड़े का अभाव है और घड़े में खम्भे का अभाव है। खम्भा घड़ा नहीं होता और घड़ा खम्भा नहीं होता। यह सादि और सान्त होता है। वर्तमान खम्भे में घड़े का अभाव होने से इस अभाव की सादि है किंतु भविष्य में घड़े के पुद्गल खम्भे के रूप में बदल सकते हैं अतः यह अभाव सान्त भी है।

6.2.4 अत्यन्त अभाव (Absolute-non-existence)

अत्यन्त अभाव को परिभाषित करते हुए लिखा गया—**'सर्वदा तादात्म्यनिवृत्तिरत्यन्तः'**—एक वस्तु का स्वरूप दूसरी वस्तु के स्वरूप से सर्वथा और सर्वदा भिन्न होता है। त्रिकाल में भी वह वस्तु दूसरी वस्तु के स्वरूप को प्राप्त नहीं हो सकता। इसका नाम अत्यन्त अभाव है, जैसे—चेतन में अचेतन का अभाव। चेतन कभी अचेतन नहीं बनता और अचेतन कभी चेतन नहीं बनता। यह अभाव अनादि और अनन्त है। चेतन में अचेतन का अभाव अनादिकाल से था और अनन्त काल तक रहेगा, अतः यह अभाव अनादि और अनन्त है।

दर्शन जगत् में प्रमेय (वस्तु) के स्वरूप के विषय में सभी दार्शनिक एकमत नहीं हैं। उसी प्रकार वस्तु के भाव-अभाव स्वरूप को लेकर भी तीन विचारधाराएं हैं—

1. एकान्त भावरूप वस्तु,
2. एकान्त अभावरूप वस्तु,
3. भावाभाव रूप वस्तु।

6.3 एकान्त भावरूप वस्तु (Object having absolute existence)

एकान्त भावरूप का तात्पर्य है कि वस्तु के भावस्वरूप को ही स्वीकार करना, अभावस्वरूप का सर्वथा निषेध कर देना। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति, पुरुष आदि पच्चीस तत्त्वों का सद्भाव ही है, अभाव नहीं। वेदान्तवादियों के अनुसार भी ब्रह्म की एकमात्र सत्ता है, उसी का ही भाव है। भाव को छोड़कर अभाव कोई पृथक् धर्म नहीं है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भी हमें केवल भावरूप धर्म का ही ग्रहण होता है।

मीमांसक भी शब्द को नित्य मानते हैं। उनके अनुसार शब्द का सद्भाव हमेशा रहता है। जब हम बोलते हैं तब वह व्यक्त हो जाता है अन्यथा वह अव्यक्त अवस्था में रहता है। इस प्रकार सांख्य, वेदान्त, मीमांसा आदि वस्तु को भावरूप ही स्वीकार करते हैं, अभावरूप नहीं।

6.4 एकान्तभावरूप वस्तु की समीक्षा (Review of the object having absolute existence)

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु न केवल भावरूप है और न केवल अभावरूप है अपितु भावाभावरूप है। जैन दर्शन वस्तु में प्राग् अभाव, प्रध्वंस अभाव आदि चार प्रकार के अभाव स्वीकार करता है। यदि हम वस्तु को केवल भावरूप

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्वीकार करें और इन चारों के अभाव को स्वीकार न करें तो अनेक दोषों की संभावना रहती है। वे दोष संक्षेप में चार प्रकार के हैं—

1. निर्विकारता का दोष।

2. अनन्तता का दोष।

3. सर्वात्मकता का दोष।

4. एकात्मकता का दोष।

* प्राग् अभाव को अस्वीकार कर देने पर निर्विकारता का दोष आता है अर्थात् फिर कोई नई पर्याय या नया कार्य उत्पन्न हो ही नहीं सकता। फिर दूध से दही उत्पन्न नहीं हो सकता।

* प्रध्वंस अभाव को अस्वीकार कर देने पर अनन्तता का दोष आता है अर्थात् जो कार्य हमारे सामने है उसका अभी अन्त ही नहीं होगा। जैसे दही का कभी नाश ही नहीं होगा।

* इतरेतर अभाव को अस्वीकार कर देने पर सब वस्तुओं में सबका अस्तित्व हो जायेगा। घट में पट का और पट में घट का अभाव नहीं रहेगा। घट-पट सब एकरूप हो जायेंगे।

* अत्यन्त अभाव को अस्वीकार कर देने पर सब वस्तुएं एकरूप हो जायेंगी। जड़ और चेतन का भेद ही समाप्त हो जायेगा।

दूध से दही उत्पन्न होता है और मथने के बाद दही का नाश भी होता है। घट में पट का तथा जड़ में चेतन का अभाव भी होता है। इसलिए भाव की तरह अभाव भी वस्तु का धर्म है।

वस्तु में एकान्त भाव धर्म को मानने वाले सांख्य आदि भी किसी न किसी रूप में प्राग् अभाव आदि अभावों को स्वीकार करते रहे हैं, जैसे—सांख्य दर्शन में प्रकृति से महत् (बुद्धि) महत् से अहंकार आदि तत्त्वों की उत्पत्ति स्वीकार की गई है। यदि प्राग् अभाव को न मानें तो महत्, अहंकार आदि तत्त्व अनादि हो जायेंगे, फिर उनकी प्रकृति से उत्पत्ति मानना व्यर्थ है। इसी प्रकार प्रध्वंस अभाव को न मानने पर महत् आदि तत्त्व अनन्त हो जायेंगे, उनका कभी नाश ही नहीं होगा। यदि इतरेतर अभाव को न मानें तो व्यक्त प्रकृति और अव्यक्त प्रकृति में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा और अत्यन्त अभाव को न मानने पर प्रकृति और पुरुष में भी कोई भेद नहीं रहेगा। जबकि सांख्य प्रकृति और पुरुष में भेद स्वीकार करता है। व्यक्त और अव्यक्त प्रकृति को भी एक नहीं मानता। महत्, अहंकार आदि भी प्रलय के समय प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। ऐसा मानने वाले सांख्य वस्तु को एकान्त भावरूप कैसे स्वीकार कर सकते हैं?

इसी प्रकार मीमांसा दर्शन में शब्द को नित्य माना गया है। वे उसकी उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते। यहां पर भी यह आपत्ति आती है कि यदि शब्द नित्य है तो शब्द की उत्पत्ति के लिए पुरुष द्वारा जो तालु, जिह्वा आदि का व्यापार देखा जाता है, उसकी क्या आवश्यकता है? पर तालु, जिह्वा आदि के व्यापार से ही शब्द उत्पन्न होता है अत: यह मानना चाहिए कि तालु आदि के व्यापार से पूर्व शब्द का अभाव रहता है।

मीमांसक शब्द को नित्य मानने के कारण उसका विनाश भी स्वीकार नहीं करते। यहां पर भी यह प्रश्न होता है कि यदि शब्द नित्य है तो हमें हर क्षण शब्द सुनाई देना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। जब हम बोलते हैं तभी शब्द सुनाई देता है अन्यथा नहीं, अत: हमें प्रध्वंस अभाव को भी स्वीकार करना चाहिए।

इस प्रकार वस्तु को एकान्त भावरूप मानना निर्दोष प्रतीत नहीं होता, अत: हमें वस्तु को केवल भावरूप न मानकर भावाभावरूप ही मानना चाहिए।

6.5 एकान्त अभावरूप वस्तु (Object having absolute non-existence)

एकान्त अभाव का तात्पर्य है कि वस्तु के सद्भाव को स्वीकार न कर उसके अभाव को ही स्वीकार करना। एकान्त अभाववादी के अनुसार केवल अभाव ही तत्त्व है, भाव की कोई सत्ता नहीं है। भाव स्वप्नज्ञान की तरह मिथ्या है, जैसे—स्वप्न में हम बहुत कुछ देखते हैं और उस समय वह सत्य जैसा प्रतीत होता है, किंतु आंख खुलने के बाद उनका कोई अस्तित्व नहीं रहता उसी प्रकार जागृत अवस्था में जो पदार्थ दिखलाई देते हैं उनका भी कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। अन्तर केवल इतना ही है कि स्वप्न में जो कुछ दिखलाई देता है, वह क्षणिक होता है। जिस व्यक्ति को स्वप्न आता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है उसी व्यक्ति को दिखलाई देता है। जबकि जागृत अवस्था के पदार्थ अधिक काल तक ठहरते हैं और अनेक व्यक्तियों को दिखलाई देते हैं परन्तु इतने मात्र से उसकी वास्तविक सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता अत: केवल अभाव ही सत्य है। इस प्रकार अभाववादी वस्तु के भाव स्वरूप का निराकरण कर एकान्त अभाव को ही वास्तविक मानते हैं।

6.6 एकान्त अभावरूप वस्तु की समीक्षा (Review of the object having absolute non-existence)

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु न केवल अभावरूप है और न केवल भावरूप अपितु भावाभावरूप है। यदि हम वस्तु को केवल अभावरूप स्वीकार करें और भावरूप स्वीकार न करें तो कोई व्यवस्था ही नहीं हो पायेगी।

एकान्त अभाव को मानने वाले अभाववादियों के यहां अपने मत को सिद्ध करने के लिए और दूसरों के मत का निराकरण करने के लिए कोई प्रमाण ही नहीं हो सकता, क्योंकि वे किसी भी वस्तु के सद्भाव को नहीं मानते अत: उनके यहां प्रमाण का भी सद्भाव नहीं हो सकता। प्रमाण का सद्भाव हुए बिना वे न तो अपना 'अभाव' का पक्ष सिद्ध कर पाते हैं और न 'भाव' पक्ष का खण्डन ही कर पाते हैं। उनके मत में जब कोई विचार ही नहीं है, तो विचारों के द्वारा दूसरों को समझाने के लिए शास्त्रों का निर्माण करना, उपदेश देने वाले आचार्यों का सद्भाव मानना बन्ध्यापुत्र के समान निरर्थक ही होगा।

अत: वस्तु के भावरूप को न मानकर केवल अभावरूप को मानना भी निर्दोष प्रतीत नहीं होता। वस्तु को भावाभावरूप मानना चाहिए। जैसा कि कहा गया है—

''सर्वमस्तिस्वरूपेण पररूपेण नास्ति च।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभव:।।''

6.7 सारांश

स्वरूप से प्रत्येक वस्तु अस्तिरूप अर्थात् भावरूप होती है और पररूप से प्रत्येक वस्तु नास्तिरूप अर्थात् अभावरूप होती है। यदि ऐसा न मानकर वस्तु में केवल भाव या अभावरूप को ही स्वीकार करेंगे तो क्रमश: या तो सब में सबका भाव हो जायेगा या फिर वस्तु का कोई स्वरूप ही नहीं बन पायेगा अत: वस्तु को भावाभाव रूप ही स्वीकार करना चाहिए।

6.8 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न-1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रमिति का विवेचन करते हुए प्रमाण और प्रमिति के भेदाभेद को समझाएँ?
2. प्रमाता के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसकी सिद्धि के लिए दिये गये हेतुओं की व्याख्या करें?
3. अभाव किसे कहते हैं? उसके प्रकारों का विवेचन करें।

प्रश्न-2. लघूत्तरात्मक प्रश्न (टिप्पणी)

1. भूतात्मवाद का निराकरण
2. एकान्त भावरूप वस्तु की समीक्षा

प्रश्न-3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. प्रमाण का मुख्य फल क्या है?
2. प्रमाता किसे कहते हैं?
3. प्रध्वंस अभाव से क्या तात्पर्य है?
4. पंचभूत कौन-से हैं?
5. वस्तु को भावरूप स्वीकार करने पर कौन-से दोष आते हैं?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई-4 : प्रमाण, प्रामाण्य का निश्चय, प्रत्यक्ष प्रमाण, इन्द्रिय-मन
(Valid Cognition, Determination of Validity, Sense organ and Mind)

संरचना

0.0 प्रस्तावना
1.0 उद्देश्य
1.1 जैनदर्शन में प्रमाण का स्वरूप
  1.1.1 आगम युग में प्रमाण
  1.1.2 आगमेतर युग में प्रमण का क्रमिक विकास
1.2 अयथार्थ ज्ञान या प्रमाणाभास
  1.2.1 संशय
  1.2.2 विपर्यय
  1.2.3 अनध्यवसाय
2.1 प्रमाण के प्रामाण्य का निश्चय
  2.1.1 स्वत: प्रामाण्य निश्चय
  2.1.2 परत: प्रामाण्य निश्चय
3.1 प्रमाण के भेद — प्रत्यक्ष और परोक्ष
3.2 प्रत्यक्ष प्रमाण
3.3 प्रत्यक्ष के भेद — पारमार्थिक और सांव्यावहारिक
3.4 पारमार्थिक प्रत्यक्ष
  3.4.1 अवधिज्ञान
  3.4.2 मन:पर्यवज्ञान
  3.4.3 केवलज्ञान
3.5 सर्वज्ञ की अवधारणा
4.1 सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष
  4.1.1 अवग्रह
  4.1.2 ईहा
  4.1.3 अवाय
  4.1.4 धारणा
5.1 इन्द्रिय का लक्षण
5.2 इन्द्रिय के प्रकार
  5.2.1 द्रव्येन्द्रिय
  5.2.2 भावेन्द्रिय
5.3 इन्द्रिय प्राप्ति का क्रम
5.4 पांच इन्द्रियों की ज्ञान शक्ति
5.5 पांच इन्द्रियों की ज्ञान सीमा
6.1 मन का स्वरूप
6.2 मन के कार्य
6.3 मन के प्रकार
  6.3.1 द्रव्य मन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

6.3.2 भाव मन
6.4 मन का कारण एवं परिमाण
6.5 सारांश
6.6 अभ्यास प्रश्नावली

0.0 प्रस्तावना (Introduction)

इकाई 3 में आपने पढा कि न्याय के मुख्य चार अंग हैं — प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता। प्रस्तुत इकाई में न्याय के प्रथम अंग प्रमाण, प्रामाण्य का निश्चय और प्रमाण का भेद (प्रत्यक्ष प्रमाण) इन्द्रिय, मन आदि विषयों का विवेचन किया जा रहा है। जैन दर्शन के अनुसार यथार्थ ज्ञान को प्रमण कहते हैं। प्रमाण के प्रामाण्य का निश्चय अभ्यास दशा में स्वत: तथा अनभ्यास दशा में परत: होता है। जैन दर्शन में प्रमाण के दो भेद माने गये हैं — प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाण भी दो प्रकार का होता है — पारमार्थिक प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। आत्मा से होने वाले ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं। इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष है। इन्द्रियां पांच हैं। वे अपने-अपने नियत विषय का ग्रहण करती हैं। मन त्रैकालिक है। वह अतीत, वर्तमान, भविष्य तथा सभी इन्द्रियों के विषय को अपना विषय बनाता है। मन का कार्य है — स्मृति, कल्पना और चिन्तन करना।

1.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप —

* जैन दर्शन में प्रमाण के स्वरूप और उसके क्रमिक विकास को जान सकेंगे।
* अयथार्थ ज्ञान-संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से परिचित हो सकेंगे।
* प्रामाण्य का निश्चय अभ्यास दशा में स्वत: तथा अनभ्यास दशा में परत: होता है, इस सच्चाई को समझ सकेंगे।
* प्रमाण के प्रथम भेद प्रत्यक्ष प्रमाण का विस्तृत ज्ञान कर सकेंगे।
* सर्वज्ञ किसे कहते हैं? उसकी सिद्धि के लिए दिये गए तर्क से परिचित हो सकेंगे।
* ज्ञान के माध्यम इन्द्रिय और मन के स्वरूप को जान सकेंगे।

प्रमाण (Valid Conition)

प्रमाण दर्शन जगत् का प्रमुख विषय है। ज्ञान मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। ज्ञान प्राप्ति के साधन को प्रमाण कहते हैं। **'यथार्थानुभव: प्रमा। तत्साधनं प्रमाणम्'** — यथार्थ अनुभव प्रमा है तथा प्रमा का साधन प्रमाण है। प्रमा को ओर अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया — 'जो वस्तु जैसी हो उसको उसी प्रकार की जानना,जो वस्तु जहां हो उसको वहीं की जानना अर्थात् पदार्थ की उसके वास्तविक रूप में प्रतीति करना ही प्रमा है। प्रमाण शब्द 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु में 'ल्युट' प्रत्यय जुड़कर बना है, जिसका अर्थ हुआ प्रकृष्ट रूप से अर्थात् संशय, विपर्यय से रहित भाव से पदार्थ का जो मान (ज्ञान) किया जाता है, वह प्रमाण है। प्रमाण के इस सामान्य लक्षण में सभी दार्शनिक एकमत हैं परन्तु उसके लाक्षणिक स्वरूप एवं विभाग व्यवस्था के विषय में विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में मतभेद देखा जाता है।

वैदिक परम्परा में जिन कारणों से ज्ञान पैदा होता है, उन कारणों को प्रमाण माना गया है। कुछ नैयायिकों के अनुसार प्रमा (ज्ञान) का साधकतम साधन है — इन्द्रिय सन्निकर्ष। इन्द्रिय के साथ वस्तु का संयोग होने पर ज्ञान होता है। अत: इन्द्रिय सन्निकर्ष ही प्रमाण है। जबकि कुछ प्राचीन नैयायिकों के अनुसार कोई भी ज्ञानात्मक और अज्ञानात्मक सामग्री जो प्रमा का साधन है, वही प्रमाण है। इस दृष्टि से इन्द्रिय, मन, बुद्धि, पदार्थ, प्रकाश आदि सभी किसी न किसी रूप में ज्ञान के साधन बनते हैं, अत: सभी प्रमाण हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.1 जैन दर्शन में प्रमाण का स्वरूप (Valid Cognition in Jainism)

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान ही जानने में निकटतम साधन बनता है, क्योंकि जानना चेतना की क्रिया है अत: उसका साधन भी चेतन होना चाहिए। नैयायिकों द्वारा मान्य इन्द्रिय सन्निकर्ष जड़रूप होने के कारण प्रमाण नहीं हो सकता, ज्ञान ही प्रमाण है। जिस प्रकार अंधकार की निवृत्ति प्रकाश से होती है। उसी प्रकार अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है। इन्द्रियां, पदार्थ, प्रकाश आदि अचेतन हैं, जड़ हैं, अज्ञानरूप हैं। वे अज्ञान को दूर करने में निकटतम साधन नहीं बन सकते। ज्ञान ही हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में सक्षम होता है, अत: ज्ञान को ही प्रमाण मानना उचित है, अज्ञान को नहीं।

1.1.1 आगम युग में प्रमाण (Valid Cognition in Canonical Age)

जैन दर्शन के अनुसार आगम युग में मुख्यत: ज्ञान की चर्चा उपलब्ध होती है, प्रमाण की नहीं। किंतु कुछ विचारकों का यह मंतव्य है कि प्रमाण और उसके भेद-प्रभेदों के बीजसूत्र जैन आगमों — भगवती, ठाणं, अनुयोगद्वार आदि में पाये जाते हैं। अत: प्रमाण की चर्चा भी आगम युग से ही होती रही है।

भगवती सूत्र में महावीर और गौतम का एक संवाद है —

गौतम — 'भगवन्! जैसे केवली अन्तिम शरीरी (जो इसी भव में मुक्त होने वाला हो) को जानते हैं, वैसे ही क्या छद्मस्थ भी जानते हैं?'

महावीर — 'गौतम! वे अपने आप नहीं जान सकते। वे या तो सुनकर जानते हैं या प्रमाण से जानते हैं।'

गौतम — किससे सुनकर जानते हैं।

महावीर — केवली से सुनकर जानते हैं।

गौतम — किस प्रमाण से जानते हैं।

महावीर — प्रमाण चार प्रकार के कहे गये हैं — प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम।

प्रमाण के भेद-प्रभेदों की भी विस्तृत व्याख्या अनुयोगद्वार में मिलती है। अत: यह कहा जा सकता है कि प्रमाण की चर्चा प्राचीन है। किंतु कुछ विचारकों के अनुसार भगवती आदि आगमों में उपलब्ध प्रमाण की परम्परा जैनों की न तो स्वोपज्ञ परम्परा है और न सर्वमान्य। यह चतुर्विध प्रमाण परम्परा आर्यरक्षित के द्वारा प्रवर्तित कही जा सकती है अत: आगमयुग में मुख्य रूप से ज्ञानमीमांसा की चर्चा होती थी प्रमाणमीमांसा की नहीं।

1.1.2 आगमोत्तर युग में प्रमाण का क्रमिक विकास (Cronological Development of Valid Cognition)

आगम युग ज्ञानमीमांसा प्रधान था अत: आगमों में सर्वत्र पांच ज्ञान की चर्चा उपलब्ध होती है। किंतु बाद में बौद्ध, न्याय, मीमांसक आदि दर्शनों में जब प्रमाण की चर्चा बड़े बलपूर्वक हो रही थी और प्रमाण के विषय में स्वतंत्र अनेक ग्रंथ भी लिखे जा चुके थे, तो जैनों को भी प्रमाणमीमांसा की आवश्यकता महसूस हुई और इस आवश्यकता की पूर्ति करने का सर्वप्रथम श्रेय आचार्य उमास्वाति को जाता है। उन्होंने सर्वप्रथम जैन परम्परा में प्रचलित ज्ञान को ही प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया। वे अपने ग्रंथ तत्त्वार्थ सूत्र के पहले अध्याय के नौंवे सूत्र में पांच ज्ञानों का उल्लेख करते हैं और अगले सूत्र में उन्हीं को प्रमाण की संज्ञा देते हैं। यथा —

*** मतिश्रुतावधिमन:पर्यायकेवलानि ज्ञानम्।**

*** तत् प्रमाणे।**

*** आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्। तत्त्वार्थसूत्र 1/9-11**

मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यव और केवल ये पांच ज्ञान हैं। ये ज्ञान ही प्रमाण हैं। प्रथम दो मति और श्रुत इन्द्रिय और मन की सहायता से होने के कारण परोक्ष प्रमाण हैं और अवधि, मन:पर्यव और केवल ये तीन ज्ञान आत्मा की सहायता से होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उमास्वाति ने ज्ञान और प्रमाण में किसी प्रकार का भेद नहीं रखा। उन्होंने सूत्र में पहले पांच ज्ञानों के नाम बताए और फिर कह दिया ये पांचो ज्ञान प्रमाण हैं किंतु बाद में होने वाले तार्किकों ने इस पद्धति में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

थोड़ा परिवर्तन किया और उन्होंने प्रमाण की स्वतंत्र रूप से व्याख्या करना प्रारंभ किया। अन्य दार्शनिकों की तरह प्रमाण का स्वतंत्र विवेचन किया। यद्यपि उन्होंने भी ज्ञान को ही प्रमाण माना फिरभी कौन-सा ज्ञान प्रमाण हो सकता है और कौन-सा ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता इसकी विशद चर्चा की तथा चर्चा के बाद इस निर्णय पर पहुंचे कि ज्ञान और प्रमाण कथंचित् अभिन्न, एक ही हैं।

आचार्य उमास्वाति ने ज्ञान ही प्रमाण है, इतना तो कह दिया पर प्रमाण की कोई स्वतंत्र परिभाषा नहीं दी। दार्शनिक दृष्टि से प्रमाण के स्वरूप को व्याख्यायित करने का श्रेय मिलता है — आचार्य सिद्धसेन और आचार्य समन्तभद्र को। आचार्य सिद्धसेन ने अपने ग्रंथ न्यायावतार में प्रमाण की परिभाषा दी — **'प्रमाणं स्वपरावभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्'**। 'स्व' अर्थात् अपने और 'पर' अर्थात् पदार्थ को जानने वाला तथा बाधा से रहित निर्दोष ज्ञान प्रमाण है। इस परिभाषा में ज्ञान को प्रमाण कहा गया है पर कौन-सा ज्ञान प्रमाण है, इसे स्पष्ट करने के लिए तीन विशेषण भी दिये गये हैं, वे हैं —

1. स्वावभासि ज्ञान (अपने आपको जानने वाला ज्ञान)
2. परावभासि ज्ञान (पदार्थ या दूसरों को जानने वाला ज्ञान)
3. बाधविवर्जित ज्ञान (संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से रहित ज्ञान)

प्रश्न होता है कि प्रमाण की परिभाषा में स्व और पर विशेषणों का प्रयोग क्यों किया गया? ज्ञान प्रमाण है, इतना कहने मात्र से प्रमाण की परिभाषा हो सकती थी। इसका समाधान यह है कि प्रमाण के क्षेत्र में जैनों का प्रवेश नैयायिकों, मीमांसकों एवं बौद्धों के पश्चात् हुआ। जैनाचार्यों के सामने इन दर्शनों में मान्य प्रमाण की परिभाषाएं थीं। उन्होंने देखा कि ज्ञान के संदर्भ में दार्शनिकों में दो प्रकार की विचारधाराएं हैं। कुछ दार्शनिक नैयायिक, मीमांसक आदि ज्ञान को स्वावभासी (अपने आपको प्रकाशित करने वाला) नहीं मानते। उनके अनुसार ज्ञान अपने आपको वैसे ही नहीं जान सकता जैसे कि सुतीक्ष्ण (तेज) धार वाली तलवार अपने आपको नहीं काट सकती और सुशिक्षित नट बटु अपने कंधों पर चढ़कर नहीं नाच सकता।

दूसरी ओर विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञान को स्वावभासी ही मान रहे थे, परावभासी नहीं। उनके अनुसार एकमात्र ज्ञान की ही सत्ता है। बाह्य पदार्थ, जगत् कुछ होता ही नहीं है। वे मिथ्या हैं। अत: आचार्य सिद्धसेन ने इन दोनों के बीच समन्वय स्थापित करते हुए अपने प्रमाण लक्षण में स्वपरावभासी विशेषण का प्रयोग किया, क्योंकि ज्ञान स्वपरावभासी होता है। जो ज्ञान अपने आपको नहीं जानता वह घट-पट आदि दूसरे पदार्थों को भी नहीं जान सकता। ज्ञान अपने आपको जानता है अत: वह दूसरे पदार्थों को भी जान सकता है।

प्रमाण लक्षण में बाधविवर्जित पद का प्रयोग इसलिए किया गया कि ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ के भेद से दो प्रकार का होता है। अयथार्थ ज्ञान प्रमाण नहीं होता है — यह बताने के लिए 'बाधविवर्जित' पद का प्रयोग किया गया।

आचार्य समन्तभद्र ने प्रमाण का लक्षण दिया — **'स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्'** — जो ज्ञान अपना और पर (पदार्थ) दोनों का बोध कराये, वह प्रमाण है। जो केवल अपना या पर का बोध कराता है, वह ज्ञान प्रमाण की कोटि में सम्मिलित नहीं हो सकता। प्रमाण की कोटि में वही ज्ञान समाविष्ट हो सकता है जो 'अपने' को जानने के साथ 'पर' को और 'पर' को जानने के साथ 'अपने' को भी जानता है।

आचार्य अकलंक ने सिद्धसेन और समन्तभद्र के लक्षण को मान्य करते हुए अपने प्रमाणलक्षण में एक नया विशेषण जोड़ा — अनधिगत। उन्होंने अपने ग्रंथ 'अष्टशती' में प्रमाण का लक्षण किया — **'प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थलक्षणत्वात्'** — अविसंवादि (यथार्थ) और अनधिगत (अज्ञात) अर्थ को जानने वाला ज्ञान प्रमाण है। अधिगत (ज्ञात) अर्थ को पुन: जानना अर्थात् जाने हुए को ही पुन: जानना प्रमाण नहीं है। अज्ञात अर्थ को जानना प्रमाण है।

आचार्य माणिक्यनंदी ने आचार्य अकलंक का अनुसरण करते हुए प्रमाण का लक्षण किया — **'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्'**। इन्होंने अनधिगत के स्थान पर अपूर्व शब्द का प्रयोग किया, किंतु दोनों के तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। उत्तरवर्ती परम्परा में यह 'अपूर्व' विशेषण बहुत समादृत नहीं हुआ।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा में प्रमाण का लक्षण किया — **'सम्यगर्थनिर्णय: प्रमाणम्'** — पदार्थ का सम्यक् निर्णय प्रमाण है। आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण-लक्षण में 'स्व' पद और 'अपूर्व' पद का प्रयोग नहीं किया। उनके अनुसार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रमाण स्वप्रकाशी होता अवश्य है किंतु फिर भी वह प्रमाण का लक्षण नहीं बन सकता क्योंकि स्व का निर्णय प्रमाण की भांति अप्रमाण में भी होता है। अत: लक्षण में 'स्व' पद देना आवश्यक नहीं है तथा उनके अनुसार ज्ञान चाहे ज्ञात हो या अज्ञात, यदि वह यथार्थ है तो प्रमाण है। अत: लक्षण में 'अपूर्व' पद रखने की भी आवश्यकता नहीं है।

आचार्य तुलसी ने भिक्षु न्याय कर्णिका में प्रमाण को परिभाषित करते हुए लिखा — **'यथार्थज्ञानं प्रमाणम्'** अर्थात् यथार्थ ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। ज्ञान अर्थ का प्रकाशक होता है। वह अयथार्थ भी हो सकता है। इस अयथार्थता को पृथक् करने के लिए ज्ञान के साथ यथार्थ विशेषण जोड़ा गया है। वस्तु का अन्यथा ग्रहण न होना ही प्रमाण की यथार्थता है। इस प्रकार प्रमाण की अनेक परिभाषाएं उपलब्ध होती हैं। किंतु सभी का तात्पर्य एक ही है कि यथार्थ ज्ञान प्रमाण है।

1.2 अयथार्थ ज्ञान या प्रमाणाभास

ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ के भेद से दो प्रकार का होता है। यथार्थ ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और अयथार्थ ज्ञान को प्रमाणाभास कहते हैं। अयथार्थ ज्ञान के तीन भेद हैं —

1. संशय,
2. विपर्यय,
3. अनध्यवसाय।

1.2.1 संशय (Doubt)

संशय को परिभाषित करते हुए भिक्षु न्याय कर्णिका में लिखा गया — **'अनिर्णायी विकल्प: संशय:'** — निर्णय शून्य ज्ञान का नाम संशय है। जिस ज्ञान में कोई निश्चय नहीं हो पाता, वह संशय कहलाता है। जैसे — यह गौ है या गवय (नील गाय)। संशय वहां होता है जहां वस्तु तो एक होती है पर हमें उसमें दो धर्मों का ज्ञान होता है। गाय और गवय के उदाहरण में वहां या तो गाय होगी या गवय। दोनों में से कोई एक वस्तु होगी पर जब हमें उस एक चीज को देखकर दो धर्मों का ज्ञान हो और हम यह निर्णय न कर पावें कि दोनों में से वास्तव में वस्तु क्या है, तो वह अनिर्णीत अवस्था ही संशय कहलाती है। किंतु जहां एक ही वस्तु में दो धर्म पाये जाते हों और वहां यदि हमें उस एक वस्तु में दो धर्मों का ज्ञान हो रहा हो तो वह संशय नहीं है, जैसे — पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ अपेक्षा भेद से नित्य भी होता है और अनित्य भी होता है। अत: नित्य और अनित्य इन दो विकल्पों में निर्णायकता होने के कारण यह संशय नहीं है। संशय एक दोलायमान अवस्था है। इसमें किसी निणर्य पर नहीं पहुंचा जाता।

1.2.2 विपर्यय (Contrary Cognition)

विपर्यय को परिभाषित करते हुए भिक्षु न्याय कर्णिका में लिखा गया — **'अतत्त्वे तत्ताध्यवसायो विपर्यय:'** — विपर्यय अर्थात् विपरीत ज्ञान। हमारे ज्ञान में जो वस्तु प्रतीत हो रही है, वह वास्तव में न हो, उससे विपरीत हो वहां विपर्यय होता है। जैसे — अंधकार में रस्सी को देखकर उसमें सर्प का निर्णय कर लेना विपर्यय है अथवा चलती हुई ट्रेन में बैठा हुआ व्यक्ति यह निर्णय कर ले कि वृक्ष चल रहे हैं, मैं स्थिर हूं तो यह भी विपर्यय है क्योंकि वृक्ष तो स्थिर रहते हैं। पर चलती हुई ट्रेन में वे हमें चलते हुए प्रतीत होते हैं अत: यह भी विपर्यय का उदाहरण है।

संशय और विपर्यय में मूल अन्तर यही है कि संशय में हम किसी निर्णय पर नहीं पहुंचते जबकि विपर्यय में हम निर्णय पर पहुंच जाते हैं, पर हमारा वह निर्णय सही न होकर गलत होता है।

1.2.3 अनध्यवसाय (Indecision)

अनध्यवसाय को परिभाषित करते हुए भिक्षु न्याय कर्णिका में लिखा गया है — **'आभासमात्रमनध्यवसाय:'** — वस्तु का आभासमात्र होना अनध्यवसाय है। अनध्यवसाय में अन्यथा ग्रहण नहीं होता इसलिए इसे विपर्यय नहीं कहा जा सकता और वस्तु का विशेष स्पर्श न होने के कारण इसे संशय भी नहीं कहा जा सकता। इसमें विषय का स्पर्श मात्र होता है, उसका नामोल्लेख नहीं होता, निर्णय तक नहीं पहुंचता अत: इसे अयथार्थ ज्ञान की कोटि में रखा गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ये तीनों अयथार्थ ज्ञान हैं अत: अप्रमाण हैं। एक रस्सी के बारे में चार व्यक्तियों के ज्ञान के चार रूप हैं—

1. पहला—यह रस्सी है—यह यथार्थ ज्ञान है।

2. दूसरा—यह सांप है—यह विपर्यय ज्ञान है।

3. तीसरा—यह रस्सी है या सांप है—संशयात्मक ज्ञान है।

4. चौथा—रस्सी को देखकर भी पता नहीं चलता कि यह क्या है, अनध्यवसाय ज्ञान है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जैन परम्परा में यथार्थ ज्ञान को प्रमाण माना है और उसे स्वपरव्यवसायात्मक अर्थात् स्व-पर का निर्णय करने वाला बतलाया गया है।

2.1 प्रमाण के प्रामाण्य का निश्चय (Determinatino of Validity of Valid Cognition)

यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। किंतु प्रश्न होता है कि ज्ञान की यथार्थता का बोध कैसे होता है? उसके प्रामाण्य की कसौटी क्या है? जिसके आधार पर हम यह निर्णय कर सकें कि अमुक ज्ञान तो प्रमाण है और अमुक ज्ञान अप्रमाण है। प्रमाण के प्रामाण्य के निश्चय के संदर्भ में हमें तीन प्रकार की विचारधाराएं देखने को मिलती हैं—

1. प्रामाण्य का निश्चय स्वत: होता है।

2. प्रामाण्य का निश्चय परत: होता है।

3. प्रामाण्य का निश्चय उभयत: होता है।

✲ पहली विचारधारा मीमांसकों की है। उनके अनुसार प्रामाण्य का निश्चय स्वत: होता है। हमारा ज्ञान प्रमाणरूप ही उत्पन्न होता है, उसमें जो अप्रामाण्य आता है वह बाह्य दोष के कारण आता है। ज्ञान के प्रामाण्य निश्चय के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं है। इसे ही स्वत: प्रामाण्यवाद कहते हैं।

✲ दूसरी विचारधारा नैयायिकों की है। उनके अनुसार प्रामाण्य का निश्चय परत: होता है। वे ज्ञान का स्वत: प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते। ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण, इसका निर्णय किसी बाह्य पदार्थ के आधार पर ही किया जा सकता है। इसे ही परत: प्रामाण्यवाद कहते हैं।

✲ तीसरी विचारधारा जैनों की है। भिक्षु न्याय कर्णिका में इस संदर्भ में लिखा गया—**'प्रामाण्यनिश्चय: स्वत: परतो वा'**— ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय कभी स्वत: होता है और कभी परत: होता है। जैन स्वत: प्रामाण्यवाद और परत: प्रामाण्यवाद दोनों में विश्वास करता है।

2.1.1 स्वत: प्रामाण्य निश्चय (Determination of Validity by Itself)

जैन दर्शन के अनुसार विषय की परिचित दशा में ज्ञान की स्वत: प्रामाणिकता होती है। इसमें अपने ज्ञान की सच्चाई को जानने के लिए किन्हीं बाह्य विशेष कारणों की आवश्यकता नहीं होती। जैसे कोई अपने मित्र के घर कई बार गया हुआ है। उससे भली-भांति परिचित है। वह मित्र के घर को देखते ही सीधे उसमें प्रविष्ट हो जाता है। 'यह मेरे मित्र का घर है' ऐसा ज्ञान होने के समय यदि उसे उस ज्ञानगत सच्चाई का निश्चय नहीं होता तो वह उस घर में प्रविष्ट नहीं होता अत: परिचित दशा में ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय स्वत: होता है। दूसरा उदाहरण लें—एक व्यक्ति को प्यास लगी है। वह पानी पीता है और तुरन्त उसकी प्यास बुझ जाती है। प्यास बुझते ही वह समझ लेता है कि मैंने पानी ही पिया है। वह पानी था या नहीं, इसका निश्चय करने के लिए उसे दूसरी वस्तु का सहारा लेना नहीं पड़ता, अत: परिचित दशा में या अभ्यस्त दशा में ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय स्वत: होता है।

2.1.2 परत: प्रामाण्य निश्चय (Determination of Validity by others)

विषय की अपरिचित दशा में प्रामाण्य का निश्चय परत: होता है। जब ज्ञान की कारण सामग्री से उसकी सच्चाई का पता नहीं लगता तब विशेष कारणों की सहायता से उसकी प्रामाणिकता जानी जाती है, यही परत: प्रामाण्य है। जैसे कोई व्यक्ति सुने हुए चिह्नों के आधार पर अपने मित्र के घर के पास पहुंच जाता है पर फिर भी उसे यह संदेह हो सकता है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कि यह घर मेरे मित्र का ही है या किसी दूसरे का? उस समय किसी जानकार व्यक्ति से पूछकर अपने ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करता है। अत: यहां अपने ज्ञान की सच्चाई का पता दूसरे की सहायता से लगने के कारण यह परत: प्रामाण्य है। दूसरा उदाहरण लें — एक जगह सफेद ढेर लगा हुआ है। हमें ऐसा प्रतीत हो रहा है कि शक्कर का ढेर है, किंतु इसका निश्चय कैसे हो कि शक्कर ही है। तब हमनें उसमें से थोड़ी-सी उठाकर मुंह में डाल ली। मुंह मीठा हो गया। तुरन्त यह निश्चय हो गया कि यह शक्कर ही है। इस निर्णय के लिए पदार्थ के कार्य या परिणाम की प्रतीक्षा करनी पड़ी। स्वत: निर्णय नहीं हो सका अत: यह परत: प्रामाण्य है।

जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है अत: उसने एकान्त रूप से प्रामाण्य को स्वत: मानने वाले मीमांसकों का तथा एकान्त रूप से परत: मानने वाले न्याय वैशेषिकों का समर्थन न कर अनेकान्त का अवलम्बन लेकर दोनों का समर्थन भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से किया। अभ्यास दशा या परिचित दशा की अपेक्षा से होने वाला निश्चय स्वत: प्रामाण्यवाद का साक्षी है। अनभ्यास दशा या अपरिचित दशा की अपेक्षा से होने वाला निश्चय परत: प्रामाण्यवाद का समर्थक है। इस प्रकार जैन दर्शन प्रामाण्य का निश्चय अभ्यास दशा में स्वत: एवं अनभ्यास दशा में परत: स्वीकार करता है।

3.1 प्रमाण के भेद (Types of Valid Cognition)

प्रमाण के स्वरूप के समान ही प्रमाण की संख्या के विषय में भी विभिन्न दार्शनिक एकमत नहीं हैं। उनके अनुसार प्रमाणों की तालिका निम्नांकित है —

1. चार्वाक एक प्रमाण मानता है — प्रत्यक्ष।
2. बौद्ध और वैशेषिक दो प्रमाण मानते हैं — प्रत्यक्ष और अनुमान।
3. सांख्य तीन प्रमाण मानते हैं — प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।
4. नैयायिक चार प्रमाण मानते हैं — प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान।
5. मीमांसा (प्रभाकर) पांच प्रमाण मानते हैं — प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति।
6. मीमांसा (कुमारिल भट्ट) छ: प्रमाण मानते हैं — प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव।
7. पौराणिक इन छहों प्रमाणों के अतिरिक्त संभव, ऐतिह्य तथा प्रातिभ इन तीन प्रमाणों को और मानता है।
8. जैन दो प्रमाण मानते हैं — प्रत्यक्ष और परोक्ष।

जैन परम्परा में प्रमाण के मुख्य दो भेद माने गये — प्रत्यक्ष और परोक्ष। इस प्रमाण विभाग की मुख्य विशेषता यह है कि जैनों ने चार्वाक की तरह अनुमान आदि प्रमाणों का तथा बौद्धों की तरह आगम आदि प्रमाणों का निषेध नहीं किया तथा अन्य दर्शनों में मान्य उपमान, अर्थापत्ति, अभाव आदि प्रमाणों का समावेश भी प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो ही प्रमाणों में कर लिया। उपमान प्रमाण का समावेश प्रत्यभिज्ञा में, अर्थापत्ति प्रमाण का समावेश अनुमान में तथा अभाव प्रमाण का समावेश प्रत्यक्ष प्रमाण में कर लिया गया।

प्रमाण के दो भेदों — प्रत्यक्ष और परोक्ष में से प्रत्यक्ष प्रमाण की चर्चा हम इसी इकाई में करेंगें तथा परोक्ष प्रमाण की चर्चा पांचवीं इकाई में करेंगे।

3.2 प्रत्यक्ष प्रमाण (Perceptual Cognition)

प्रत्यक्ष शब्द 'प्रति' उपसर्ग पूर्वक 'अक्ष' धातु से बना है। अक्ष का अर्थ 'जीव' और 'इन्द्रिय' दोनों होता है पर जैन परम्परा में 'अक्ष' शब्द की 'आत्मा' अर्थ मानकर व्युत्पत्ति की गई है — **'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा'**। अत: आगमिक परिभाषा के अनुसार आत्मा से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। जिन ज्ञानों में इन्द्रिय और मन की आवश्यकता पड़ती है, वह परोक्ष है।

3.3 प्रत्यक्ष के भेद (Types of Perceptual Cognition)

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है जबकि प्राय: सभी दार्शनिक प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति में 'अक्ष' पद का अर्थ इन्द्रिय मानकर कर रहे थे। उनमें से किसी दर्शन ने भी 'अक्ष' शब्द का 'आत्मा' अर्थ मानकर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

व्युत्पत्ति नहीं की। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, बौद्ध, मीमांसा आदि दर्शनों के अनुसार इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। इन दर्शनों में प्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण जैन आगमिक परम्परा के अनुसार परोक्ष प्रमाण कहलाता है। जैन दार्शनिकों ने इस विरोध को दूर करने के लिए और अन्य दर्शनों के साथ समन्वय करने की दृष्टि से प्रत्यक्ष की परिभाषा में कुछ परिवर्तन किया और कहा **'विशदः प्रत्यक्षम्'** — विशद (स्पष्ट) ज्ञान प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष के उन्होंने दो भेद कर दिये — पारमार्थिक प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। सर्वप्रथम जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण और आचार्य अकलंक ने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के रूप में इन्द्रिय प्रत्यक्ष को प्रतिष्ठापित कर आगमिक और दार्शनिक युग का समन्वय किया। इस प्रकार जैनदृष्टि से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अन्य दर्शनों के साथ समन्वय का फलित रूप है। जैनदर्शन में प्रत्यक्ष के दो प्रकार माने गये हैं —

1. पारमार्थिक प्रत्यक्ष,
2. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष।

3.4 पारमार्थिक प्रत्यक्ष (Transcendent)

'साहाय्यनिरपेक्षं प्रत्यक्षम्' — जिस ज्ञान में इन्द्रिय, मन या किसी अन्य प्रमाणों के सहायता की अपेक्षा नहीं होती तथा जो आत्मा से सीधा होता है, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इसके तीन प्रकार हैं —

1. अवधिज्ञान,
2. मन:पर्यवज्ञान,
3. केवलज्ञान।

3.4.1 अवधिज्ञान (Clairvoyance)

पारमार्थिक प्रत्यक्ष का पहला भेद है — अवधि। इसे परिभाषित करते हुए लिखा — **'रूपि द्रव्यसाक्षात्करणमवधिः'** अर्थात् रूपी द्रव्यों का साक्षात् करने वाला ज्ञान अवधिज्ञान है। रूपी अर्थात् जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श होता है, वह रूपी कहलाता है और जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं होता वह अरूपी कहलाता है। अवधिज्ञान का विषय केवल रूपी द्रव्य बनते हैं, अरूपी नहीं। अवधिज्ञानी इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा से ही सूक्ष्म और स्थूल, आवरणित और अनावरणित, दूरस्थ और निकटस्थ सभी पदार्थों को साक्षात् जानने का सामर्थ्य विकसित कर लेता है।

अवधिज्ञान के भेद (Types of Clairvoyance)

अवधिज्ञान के मुख्य दो भेद बताये गये हैं —

1. भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान,
2. गुणप्रत्ययिक अवधिज्ञान।

1. भवप्रत्ययिक

जिस अवधिज्ञान की प्राप्ति में भव अर्थात् जन्म निमित्त बनता है, वह भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान है। जैसे देव और नारक के रूप में जन्म लेने वाले प्राणियों को वहां उस स्थान विशेष में जन्म लेने से अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता है। उन्हें प्राप्त करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

2. गुणप्रत्ययिक

जिस अवधिज्ञान को प्राप्त करने में अणुव्रत, महाव्रत आदि व्रतों की आराधना करनी पड़ती है या जिसमें विशेष साधना, प्रयत्न, पुरुषार्थ करना पड़ता है, वह गुणप्रत्ययिक अवधिज्ञान है। यह मनुष्य और तिर्यंच में होता है। इसे क्षायोपशमिक अवधिज्ञान भी कहा जाता है। नंदीसूत्र में अवधिज्ञान के अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाती एवं अप्रतिपाती ये छः भेद बताये गये हैं।

3.4.2 मन:पर्यवज्ञान (Mind-reading)

पारमार्थिक प्रत्यक्ष का दूसरा भेद है — मन:पर्यवज्ञान। इसे परिभाषित करते हुए लिखा गया — **'मनोद्रव्यपर्याय-साक्षात्कारि मन:पर्यायः'** अर्थात् मन की पर्यायों (अवस्थाओं) को आत्मा के द्वारा साक्षात् जानने वाला ज्ञान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मन:पर्यवज्ञान है। मन के दो प्रकार होते हैं — द्रव्यमन और भावमन। मन:पर्यवज्ञानी इन दोनों में से द्रव्यमन (पौद्गलिक मन) की पर्यायों का ही साक्षात्कार करता है, भावमन की पर्यायों का नहीं। क्योंकि भावमन के पर्याय अमूर्त्त होते हैं और मन:पर्यवज्ञान का विषय भी अवधिज्ञान की भांति मूर्त्त पर्याय ही है।

व्यक्ति मन से जब कोई चिंतन करता है, किसी पदार्थ के बारे में सोचता है तो वह वैसे ही मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है। मन:पर्यवज्ञानी उन ग्रहण किये हुए पुद्गलों के आधार पर यह जान लेता है कि अमुक व्यक्ति अमुक प्रकार के पदार्थ के बारे में चिंतन कर रहा है। यह ज्ञान केवल मनुष्य गति में ही होता है और मनुष्यों में भी संयमी मनुष्य अर्थात् साधु को ही होता है। साधु में भी जो अप्रमत्त और ऋद्धि को प्राप्त होता है, उसे होता है, सबको नहीं।

मन:पर्यव ज्ञान के भेद (Types of Mind-reading)

मन:पर्यवज्ञान के मुख्य दो भेद बताये गये हैं —

1. ऋजुमति,
2. विपुलमति।

मन की सामान्य पर्यायों को जानने वाला ज्ञान ऋजुमति कहलाता है तथा मन की विशेष पर्यायों को जानने वाला ज्ञान विपुलमति कहलाता है।

3.4.3 केवलज्ञान (Perfect Knowledge)

पारमार्थिक प्रत्यक्ष का तीसरा प्रकार है — केवलज्ञान। इसे परिभाषित करते हुए लिखा गया — **'चेतनस्य निरावरणस्वरूपं केवलम्'** — चेतना (आत्मा) का निरावरण स्वरूप केवलज्ञान है। केवलज्ञानी सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है अत: उसके ज्ञान को पूर्ण प्रत्यक्ष कहा जाता है।

केवलज्ञान आत्मा का मूल स्वभाव है किंतु ज्ञानावरणीय कर्म के कारण उसका वह मूल स्वभाव आवरणित हो जाता है। जब ज्ञानावरणीय कर्म का पूर्ण क्षय (नाश) हो जाता है तब उसका मूल स्वरूप प्रकट हो जाता है और वह सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों को हस्तामलकवत (हाथ में रखे हुए आंवले की तरह) साक्षात् जानने और देखने लगता है। तीनों कालों ओर तीनों लोकों में उसके लिए कुछ भी अज्ञात नहीं रहता। वह सर्वज्ञ अर्थात् सब कुछ जानने वाला हो जाता है। (अवधि, मन:पर्यव और केवलज्ञान इन तीनों का विस्तृत विवेचन आप इकाई-2 में पढ़ चुके हैं अत: यहां उन्हें पुन: दोहराने की आवश्यकता नहीं है। इनका विस्तार आप वहीं से देखें।)

3.5 सर्वज्ञ (Omniscience)

'सर्वं जानाति इति सर्वज्ञ:' जो सब कुछ जानता है, वह सर्वज्ञ कहलाता है। सर्वज्ञता की चर्चा दार्शनिक क्षेत्र की प्रमुख चर्चा रही है। चार्वाक और मीमांसा के अतिरिक्त प्राय: सभी भारतीय दार्शनिकों ने सर्वज्ञता को स्वीकार किया है। भले ही वह सर्वज्ञता किसी व्यक्ति में हो या ईश्वर में। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार ईश्वर सर्वज्ञ है। सांख्य-योग और वेदान्त सम्मत सर्वज्ञता का स्वरूप भी वैसा ही है, जैसा न्याय-वैशेषिक मानते हैं। सांख्य और योग दर्शन ईश्वर को स्वीकार करते हैं तथा उसी को सर्वज्ञ भी मानते हैं, किंतु मुक्ति के लिए सर्वज्ञता का होना अनिवार्य नहीं मानते।

जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष प्राप्त करने के लिए पहले सर्वज्ञ होना आवश्यक है। सर्वज्ञता के अभाव में मोक्ष नहीं हो सकता। जो लोग सर्वज्ञ का निषेध करते हैं उन्हें समझाने के लिए जैन तार्किकों ने अनेक युक्तियां भी दी हैं। यद्यपि सर्वज्ञता को जानना तर्क का विषय नहीं, अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय है फिर भी सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र ने अपने ग्रंथ आप्तमीमांसा में सर्वज्ञता को सिद्ध किया है। वे आप्तमीमांसा की चौथी कारिका में लिखते हैं —

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषातिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षय:।।

दोष और आवरण का सर्वथा अभाव संभव है क्योंकि उनमें तारतम्य देखा जाता है अर्थात् क्लेश और अज्ञान व्यक्ति में भिन्न-भिन्न स्तर में पाये जाते हैं। उनमें तारतम्य होता है। जहां तारतम्य होता है वहां उसकी पराकाष्ठा भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अवश्य होती है अत: उस तारतम्य की जहां विश्रान्ति (समाप्ति) होती है वहीं सर्वज्ञता है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी सर्वज्ञ-सिद्धि में यही युक्ति दी है। **'प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादि सिद्धेस्तत्सिद्धि:'** अर्थात् प्रज्ञा के तारतम्य की विश्रान्ति की सिद्धि से सर्वज्ञता की सिद्धि होती है। इसका तात्पर्य यही है कि व्यक्ति-व्यक्ति के ज्ञान में या सभी प्राणियों के ज्ञान में तरतमता पायी जाती है, समानता नहीं होती। किसी का ज्ञान ज्यादा होता है और किसी का ज्ञान कम होता है किंतु एक स्थिति ऐसी होती है जहां ज्ञान सबसे कम होता है और एक ऐसी भी स्थिति आती है जहां ज्ञान सबसे ज्यादा रहता है। निगोद के जीवों में ज्ञान सबसे कम होता है और केवलज्ञानी में ज्ञान सबसे अधिक होता है। इससे अधिक ज्ञान होता ही नहीं है। जैसे आकार में परमाणु सबसे छोटा होता है, उससे छोटा कुछ भी नहीं होता और आकाश आकार में सबसे बड़ा होता है, उससे बड़ा कुछ भी नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञान की दृष्टि से निगोद के जीवों का ज्ञान सबसे कम होता है और केवलज्ञानी का ज्ञान सबसे अधिक होता है। शेष जीवों के ज्ञान में तरतमता रहती है अत: जहां तरतमता होती है वहां उसकी विश्रान्ति (समाप्ति) भी होती है और वह विश्रान्ति सर्वज्ञता में होती है।

जब तक आत्मा पर कर्मों का आवरण और क्लेश आदि दोष रहते हैं तब तक ज्ञान की तरतमता बनी रहती है और जब दोष और आवरण का नाश हो जाता है तब आत्मा सर्वज्ञ बन जाती है।

जिस प्रकार खान से खोदकर निकाले गये सोने में मिट्टी आदि मलिनता भी रहती है किंतु जब अग्नि, मृत्पुटपाक आदि कारणों के द्वारा सोने पर लगे मलों का नाश हो जाता है तो वह सोना शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार आत्मा पर अनादि काल से लगे हुए जो कर्ममल हैं वे तपस्या, ध्यान आदि की अग्नि में जलकर जब पूर्णत: नष्ट हो जाते हैं तब आत्मा का मूल स्वभाव जो अनन्त ज्ञान (सर्वज्ञता) है वह प्रकट हो जाता है। अत:यह बात स्थापित हो जाती है कि हर व्यक्ति के भीतर सर्वज्ञता है। कर्मों के आवरण के नाश होने पर वह प्रकट होती है।

'सर्वज्ञता होती है' यह अवधारणा स्थापित होने पर प्रश्न होता है कि वह सर्वज्ञता किसमें होती है? मीमांसकों के अनुसार सर्वज्ञता कहीं पर तो संभव हो सकती है पर व्यक्ति में वह संभव नहीं हो सकती। अत: उनके अनुसार व्यक्ति नहीं वेद ही सर्वज्ञ है और कुछ लोगों के अनुसार व्यक्ति नहीं, ईश्वर ही सर्वज्ञ है। 'व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो सकता' इस शंका का निराकरण करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा की पांचवी कारिका में लिखा—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्था: प्रत्यक्षा: कस्यचिद्यथा।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ संस्थिति:।।

इस कारिका में, व्यक्ति सर्वज्ञ होता है इस बात को सिद्ध किया गया है। सूक्ष्म (परमाणु आदि) अन्तरित (राम, रावण आदि) और दूरवर्ती (सुमेरूपर्वत आदि) पदार्थ किसी पुरुष के लिए प्रत्यक्ष हैं। क्योंकि वे पदार्थ अनुमेय (अनुमान के योग्य) हैं। जो पदार्थ अनुमेय होते हैं वे किसी के प्रत्यक्ष के विषय भी होते हैं। उदाहरण के लिए हम पर्वत पर धुंए को देखकर वहां स्थित अग्नि को अनुमान से जानते हैं पर जो व्यक्ति पर्वत के ऊपर खड़ा है वह उस अग्नि को प्रत्यक्ष जान रहा है अत: इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो किसी के लिए अनुमान का विषय होता है वह किसी के लिए प्रत्यक्ष का भी विषय बनता है। सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ हमारे लिए अनुमान के विषय बनते हैं अत: वे किसी न किसी के प्रत्यक्ष के विषय भी होंगे। जो इनको प्रत्यक्ष से जानता है, वही सर्वज्ञ है।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा में ईश्वरीय शक्ति विद्यमान है। उस शक्ति से प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञ बन सकती है अत: सर्वज्ञता केवल ईश्वर में ही नहीं सभी जीवों में संभव है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बोध प्रश्न

प्रश्न-1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रमाण के क्रमिक विकास को बताते हुए यह स्पष्ट करें कि प्रामाण्य का निश्चय कैसे होता है?
2. जैन दर्शन के अनुसार सर्वज्ञ की सिद्धि करें?

प्रश्न–2. लघूत्तरात्मक प्रश्न (टिप्पणी)

1. अयथार्थ ज्ञान
2. पारमार्थिक प्रत्यक्ष

प्रश्न–3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सर्वप्रथम प्रमाण की परिभाषा किसने दी?
2. संशय किसे कहते हैं?
3. आप्तमीमांसा किसकी रचना है?
4. चार्वाक कितने प्रमाण मानता है?
5. प्रत्यक्ष के कितने प्रकार हैं?

4.1 सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष (Empirical Direct Perception)

जैन परम्परा के अनुसार पारमार्थिक प्रत्यक्ष ही वास्तविक प्रत्यक्ष है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अन्य दर्शनों के साथ समन्वय का फलित रूप है। अवधि, मन:पर्यव और केवल ये तीनों पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं। जिनका विवेचन आप पढ़ चुके हैं। अब हम सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को समझने का प्रयास करेंगे। जब जैन न्याय का विकास हुआ तो सर्वप्रथम आचार्य जिनभद्रगणी ने अन्य दर्शनों के साथ समन्वय करने की दृष्टि से प्रत्यक्ष के दो भेद किये — मुख्य (पारमार्थिक) प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। अपने ग्रंथ विशेषावश्यक भाष्य में उन्होंने लिखा — **'इंदियमणो भवं तं संववहारपच्चक्खं'** अर्थात् इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान संव्यवहार प्रत्यक्ष है। आगमयुग में इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान कहलाता था, जो कि परोक्ष की परिधि में परिगणित होता था। आचार्य जिनभद्रगणी ने इन्द्रिय और मन से होने वाले मतिज्ञान को परोक्ष की परिधि से निकालकर सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित किया। इस विभाग से आगमयुग की मूल अवधारणा 'आत्मा से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है' की भी क्षति नहीं हुई और विपक्षी दार्शनिकों के साथ सहज समन्वय भी स्थापित हो गया।

सांव्यवहारिक को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि जिसके द्वारा सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप व्यवहार करते हैं, वह संव्यवहार है। भिक्षु न्याय कर्णिका में **'अवग्रहेहावायधारणात्मकं सांव्यवहारिकम्'** कहकर सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के चार प्रकार बताये गये हैं —

1. अवग्रह,
2. ईहा,
3. अवाय,
4. धारणा।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चारों ज्ञानों में इन्द्रिय और मन की आवश्यकता रहती है अत: आत्मा से सीधे (Direct) न होने के कारण निश्चय दृष्टि से ये परोक्ष ही हैं किंतु स्पष्ट होने के कारण व्यवहार में इनको प्रत्यक्ष कहा गया है। व्यवहार में इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान के लिए हम प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग करते भी हैं, जैसे — यह दृश्य मैंने अपनी आंखों से प्रत्यक्ष देखा है, वह बात मैंने अपने कानों से प्रत्यक्ष सुनी है आदि। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के चारों भेदों का विवेचन इस प्रकार है —

4.1.1 अवग्रह (Sensation)

इन्द्रिय और पदार्थ का योग होने पर सर्वप्रथम 'दर्शन' होता है। विशेष के उल्लेख से रहित सत्ता मात्र का बोध 'दर्शन' कहलाता है। दर्शन के पश्चात् होने वाला वस्तु का सामान्य ज्ञान जिसका निर्देश नहीं किया जा सकता है, वह अवग्रह कहलाता है। अवग्रह दो प्रकार का है —

1. व्यंजनावग्रह,
2. अर्थावग्रह।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अर्थावग्रह का पूर्ववर्ती ज्ञान-व्यापार, जो इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से उत्पन्न होता है, वह व्यंजनावग्रह है। यह अव्यक्त ज्ञान है। व्यंजनावग्रह के बाद उससे कुछ व्यक्त पर अव्यक्त-सा ही वस्तु का जो ज्ञान होता है, वह अर्थावग्रह है, जैसे 'कुछ है'। नन्दीसूत्र में मल्लक (सिकोरा) और सुप्त व्यक्ति के दृष्टान्त से व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह को स्पष्ट किया गया है।

4.1.2 ईहा (Speculation)

अवग्रह के द्वारा ज्ञात अर्थ को विशेष रूप से जानने की इच्छा ईहा है। अवग्रह के बाद संशय ज्ञान होता है। यह क्या है — शब्द या स्पर्श? इसके बाद यह वितर्क उठता है कि यह श्रोत्र का विषय है इसलिए शब्द होना चाहिए। इस प्रकार अवग्रह के द्वारा ज्ञात पदार्थ के स्वरूप का निश्चय करने के लिए विमर्श करने वाला ज्ञान क्रम ईहा है। अवग्रह में पदार्थ के सामान्य रूप का ग्रहण होता है और ईहा में उसके विशेष धर्मों का पर्यालोचन शुरू हो जाता है।

4.1.3 अवाय (Judgment)

ईहित अर्थ का विशेष निर्णय अवाय है। अवाय की स्थिति में ज्ञान निर्णीत हो जाता है। मधुर, स्निग्ध आदि गुणों से युक्त होने के कारण यह शंख का ही शब्द है, शार्ङ्ग का नहीं है। इस प्रकार का विशेष ज्ञान अवाय है।

4.1.4 धारणा (Retention)

अवाय में जो निश्चित ज्ञान होता है, उसकी संख्येय-असंख्येय काल तक अवस्थिति धारणा है। धारणा को स्मृति का हेतु कहा गया है। ऐसा मीठा शब्द शंख का ही होता है। इसे लम्बे समय तक धारण करना धारणा है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है अत: अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को समझने के बाद इन्द्रिय और मन को समझना भी आवश्यक है।

5.1 इन्द्रिय (Sense-Organ)

आत्मिक ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण आत्मा को इन्द्र कहते हैं। उस इन्द्र को जिसके द्वारा पहचाना जाता है उसे इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रिय को परिभाषित करते हुए लिखा गया — **'प्रतिनियतविषयग्राही इन्द्रियम्'** — जो अपने-अपने नियत विषय को ग्रहण करती हैं, उन्हें इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियां पांच हैं और उनके विषय भी पांच हैं —

इन्द्रिय	विषय
1. स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा)	स्पर्श
2. रसनेन्द्रिय (जिह्वा)	रस
3. घ्राणेन्द्रिय (नाक)	गंध
4. चक्षुरिन्द्रिय (आंख)	रूप
5. श्रोत्रेन्द्रिय (कान)	शब्द

1. जिस इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है वह है — स्पर्शन इन्द्रिय।
2. जिस इन्द्रिय से रस का ज्ञान होता है वह है — रसन इन्द्रिय।
3. जिस इन्द्रिय से गंध का ज्ञान होता है वह है — घ्राण इन्द्रिय।
4. जिस इन्द्रिय से रूप का ज्ञान होता है वह है — चक्षु इन्द्रिय।
5. जिस इन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है वह है — श्रोत्र इन्द्रिय।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.2 इन्द्रिय के प्रकार (Types of Sense-organ)

इन्द्रियां दो प्रकार की हैं—

1. द्रव्येन्द्रिय,

2. भावेन्द्रिय।

5.2.1 द्रव्येन्द्रिय (Physical Sense-organ)

नाक, कान आदि इन्द्रियों की बाहरी और भीतरी पौद्गलिक रचना (आकार विशेष) को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। द्रव्येन्द्रिय पुद्गलमय होने से अजीव हैं। द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं—

1. निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय,

2. उपकरण द्रव्येन्द्रिय।

1. निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय (Organic Structure)

इन्द्रिय की आकार रचना को निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। आकार दो प्रकार के होते हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य आकार भिन्न-भिन्न जीवों के भिन्न-भिन्न होते हैं, सबके एक जैसे नहीं होते। आभ्यन्तर आकार सभी जीवों के एक जैसे होते हैं। जैसे—

1. श्रोत्रेन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार—कदम्ब के फूल जैसा है।

2. चक्षुरिन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार—मसूर की दाल जैसा है।

3. घ्राणेन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार—अतिमुक्त पुष्प की चन्द्रिका जैसा है।

4. रसनेन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार—खुरपे जैसा है।

5. स्पर्शनेन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार—अपने-अपने शरीर के आकार जैसा है।

2. उपकरण द्रव्येन्द्रिय (Effeciency of the organic structure)

इन्द्रियों की आभ्यन्तर आकार रचना के भीतर अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ जो पौद्गलिक शक्ति होती है, उसे उपकरण द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

प्रश्न होता है, आभ्यन्तर निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय में क्या भेद है? आभ्यन्तर निर्वृत्ति है आकार और उपकरण है उसके भीतर विद्यमान अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने वाली पौद्गलिक शक्ति। वात-पित्त आदि से उपकरण द्रव्येन्द्रिय नष्ट हो जाये तो आभ्यन्तर द्रव्येन्द्रिय होने पर भी विषयों का ग्रहण नहीं होता। उदाहरणार्थ—बाह्य निर्वृत्ति है तलवार, आभ्यन्तर निर्वृत्ति है तलवार की धार और उपकरण है तलवार की छेदन-भेदन शक्ति।

5.2.2 भावेन्द्रिय (Psychical Sense-organ)

आत्मा के परिणाम विशेष (जानने की योग्यता और प्रवृत्ति) को भावेन्द्रिय कहते हैं। भावेन्द्रिय ज्ञानमय होने से जीव है। भावेन्द्रिय के दो भेद हैं—

1. लब्धि भावेन्द्रिय,

2. उपयोग भावेन्द्रिय।

1. लब्धि भावेन्द्रिय (Attainment)

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर स्पर्श आदि विषयों को जानने की जो शक्ति प्राप्त होती है, उसे लब्धि भावेन्द्रिय कहते हैं।

2. उपयोग भावेन्द्रिय (Conscious Activity)

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति की प्रवृत्ति को उपयोग भावेन्द्रिय कहते हैं। प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

होता है लब्धि और उपयोग में क्या अन्तर है? लब्धि है चेतना की योग्यता और उपयोग है चेतना का व्यापार। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति ने एक दूरवीक्षण यंत्र खरीदा, यह तो हुई लब्धि (प्राप्ति) और उस यंत्र से उसने दूर स्थित पदार्थों का निरीक्षण किया, यह हुआ उसका उपयोग।

निवृत्ति, उपकरण, लब्धि और उपयोग इन चारों प्रकार की इन्द्रियों के ठीक होने से ही विषय का ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं। जैसे— चक्षु का आकार (निर्वृत्ति इन्द्रिय) न हो तो देखा नहीं जा सकता। चक्षु का आकार होने पर भी यदि उसमें देखने की शक्ति (उपकरण इन्द्रिय) न हो तो भी देखा नहीं जा सकता। आकार और उनमें देखने की शक्ति होने पर भी तत्काल मृत व्यक्ति नहीं देख सकता क्योंकि उसके पास लब्धि इन्द्रिय (ज्ञान शक्ति) ही नहीं रही। निर्वृत्ति, उपकरण, लब्धि इन तीनों के होने पर भी यदि ध्यान दूसरी तरफ लगा हो तो व्यक्ति सामने पड़ी वस्तु को भी देख नहीं पाता, क्योंकि उस तरफ उसका उपयोग नहीं है अर्थात् उपयोग इन्द्रिय काम नहीं कर रही है।

5.3 इन्द्रिय प्राप्ति का क्रम (Sequence of the attainment of sense)

इन्द्रिय प्राप्ति के विषय में यह एक नियम है कि सर्वप्रथम लब्धि भावेन्द्रिय की प्राप्ति होती है। जितनी इन्द्रियों की लब्धि (प्राप्ति) का क्षयोपशम होता है, उतनी ही निर्वृत्ति इन्द्रिय अर्थात् आकार रचना का निर्माण जीव शरीर में कर पाता है। यदि एक इन्द्रिय की लब्धि प्राप्त है तो वह अपने शरीर में एक इन्द्रिय की रचना कर पाता है और पांच इन्द्रियों की लब्धि है तो पांच इन्द्रियों की आकार रचना कर पाता है। फिर निर्वृत्ति इन्द्रिय के अनुसार उपकरण इन्द्रिय (सुनने, देखने आदि की पौद्गलिक शक्ति) मिलती है और उपकरण इन्द्रिय के अनुसार उपयोग भावेन्द्रिय होती है अर्थात् आत्मा उपयोग लगा सकती है।

इस प्रकार जैन दर्शन में इन्द्रिय प्राप्ति का एक व्यवस्थित क्रम मिलता है। इस क्रम में लब्धि का स्थान पहला है, फिर क्रमशः निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग का स्थान है। उपयोग के बिना उपकरण, उपकरण के बिना निर्वृत्ति, निर्वृत्ति के बिना लब्धि हो सकती है किंतु लब्धि के बिना निर्वृत्ति, निर्वृत्ति के बिना उपकरण और उपकरण के बिना उपयोग नहीं हो सकता।

5.4 पांच इन्द्रियों की ज्ञान शक्ति (The power of cognition in five senses)

पांच इन्द्रियों में चक्षुरिन्द्रिय की ज्ञान शक्ति सबसे अधिक है। वह रूप के पुद्गलों का स्पर्श किये बिना ही रूप का ज्ञान कर लेती है। श्रोत्रेन्द्रिय की ज्ञान शक्ति चक्षु से कम है क्योंकि वह शब्द के पुद्गलों का स्पर्श करके जानती है। शेष तीन इन्द्रियों की ज्ञान शक्ति श्रोत्र से भी कम है क्योंकि ये तीनों गंध, रस आदि के पुद्गलों को स्पर्श मात्र से नहीं जान सकती अपितु स्पर्श होने के बाद आत्मा अपने प्रदेशों द्वारा उन्हें ग्रहण करती है, ग्रहण करने के बाद घ्राणादि इन्द्रियों को अपने विषय का ज्ञान होता है।

5.5 पांच इन्द्रियों की ज्ञान सीमा (Limit of knowledge of the five senses)

पांचों इन्द्रियों की ज्ञान शक्ति की भांति इनकी ज्ञान की भी सीमा है—

1. श्रोत्रेन्द्रिय कम से कम आंगुल के असंख्यातवें भाग से और अधिक से अधिक बारह योजन से आये हुए (मेघ आदि की गर्जना के) शब्दों को सुन सकती है। लेकिन ये शब्द शब्दान्तर तथा वायु आदि से प्रतिहत छिन्न-भिन्न नहीं होने चाहिए। ऐसी भी प्रसिद्धि है कि चक्रवर्ती की राजधानी या सेना बारह योजन विस्तृत होती है। उसमें सूचना देने के लिए समय-समय पर घंटा बजाया जाता है। उसका शब्द समूची नगरी या सेना में सुनाई देता है।

2. चक्षुरिन्द्रिय कम से कम आंगुल के असंख्यातवें भाग और अधिक से अधिक लाख योजन से कुछ अधिक दूर रहे हुए रूप को देख सकती है, लेकिन बीच में किसी का व्यवधान नहीं होना चाहिए। वैक्रिय शक्ति से जो मनुष्य लाख योजन से ऊंचा रूप बनाता है, वह अपने पैरों के नीचे तक देखता है। संभव है उसी की अपेक्षा से यहां कुछ अधिक लाख योजन कहा हो।

प्रवचनसार में कहा है कि यह कुछ अधिक लाखयोजन का कथन अभास्वर-अप्रकाशमान पदार्थों की अपेक्षा से समझना चाहिए। तेजस्वी द्रव्य तो और भी दूर से देखे जा सकते हैं।

3-5. घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय— ये तीनों इन्द्रियां कम से कम आंगुल के असंख्यातवें भाग तथा अधिक से अधिक नौ योजन से आये हुए व्यवधान रहित गंध, रस और स्पर्श का ज्ञान करती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.6 पांच इन्द्रियों में प्राप्यकारी कितनी अप्राप्यकारी कितनी (Which of the five senses are contactile and which are non-contactile)

पांच इन्द्रियों में एक चक्षु अप्राप्यकारी है और शेष चार प्राप्यकारी हैं। जो शब्दादि के पुद्गलों को प्राप्त करके ज्ञान करती हैं उन्हें प्राप्यकारी कहते हैं एवं जो दूर से ही पदार्थ का ज्ञान कर लेती है उसे अप्राप्यकारी कहते हैं। चक्षु रूप के पुद्गलों का स्पर्श न करके दूर से ही रूप का ज्ञान करती है अत: वह अप्राप्यकारी है तथा शेष चारों इन्द्रियां शब्दादि पुद्गलों को प्राप्त करके, छू करके शब्द- गंध-रस-स्पर्श का ज्ञान करती है, अत: वे प्राप्यकारी हैं।

5.7 पांच इन्द्रियों में कामी कितनी भोगी कितनी (Which of the five senses are desiree and which of them are indulgent)

पांच इन्द्रियों में श्रोत्र और चक्षु ये दो तो कामी हैं तथा शेष तीनों इन्द्रियां भोगी हैं। मतलब यह है कि शब्द और रूप दोनों का नाम काम है तथा गंध-रस-स्पर्श का नाम भोग है। श्रोत्र और चक्षु ये दो इन्द्रियां क्रमश: शब्द और रूप का ज्ञान करती है अत: कामी है तथा घ्राण, रसना और त्वचा गंध-रस-स्पर्श से संबंध करती हैं इसलिए भोगी हैं।

इन्द्रिय के भेद-प्रभेदों को इस चार्ट के माध्यम से अच्छी तरह समझा जा सकता है—

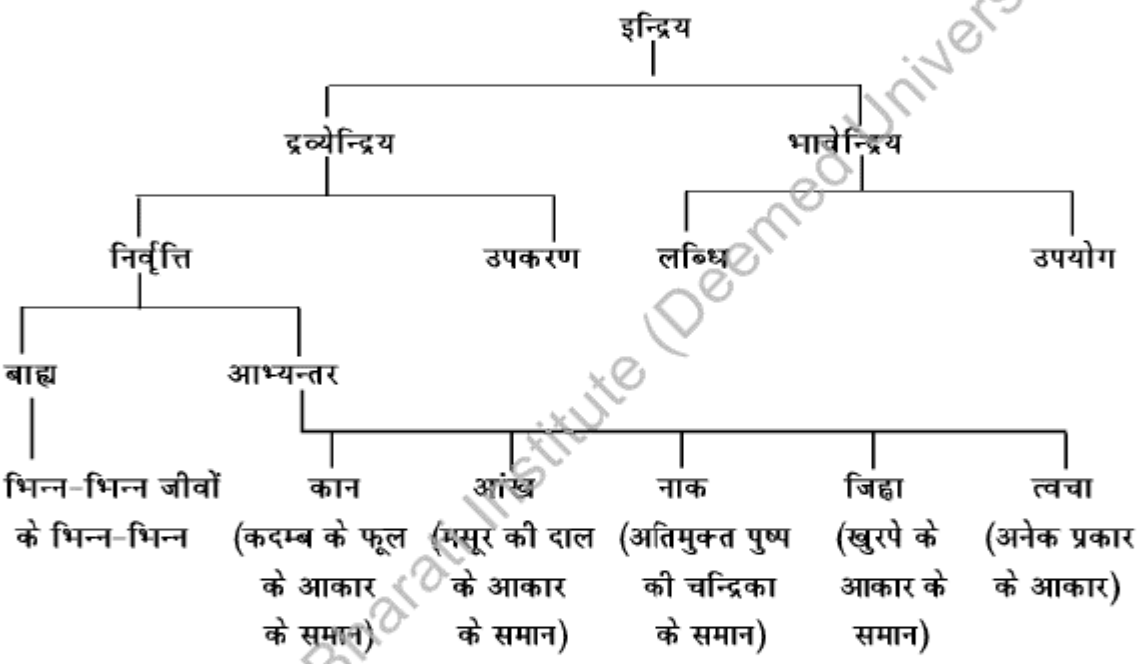

6.1 मन (Mind)

पांच इन्द्रियों के अतिरिक्त एक और भी इन्द्रिय है, जिसे मन कहते हैं। मन ज्ञान का साधन है पर स्पर्शन आदि की तरह बाह्य साधन न होकर आंतरिक साधन है। अत: उसे अंत:करण भी कहते हैं। **'मननं मन्यते अनेन वा मन:'** इस व्युत्पत्ति के आधार पर मनन करना मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है, वह मन है।

मन को परिभाषित करते हुए भिक्षु न्याय कर्णिका में कहा गया है—**'सर्वार्थग्राहि त्रैकालिकं मन:'** अर्थात् जिसके द्वारा सब विषयों को ग्रहण किया जाता है और जो त्रैकालिक संज्ञान हैं, वह मन है।

6.2 मन का कार्य (Function of mind)

मन का कार्य है चिंतन, स्मृति और कल्पना करना। वह इन्द्रिय के द्वारा गृहीत वस्तुओं के बारे में भी सोचता है और उससे आगे भी सोचता है। मन इन्द्रिय-ज्ञान का प्रवर्तक है। मन को अपने विषय का ज्ञान करने के लिए सब जगह इन्द्रिय की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन दर्शन के अनुसार श्रुतज्ञान भी मन का विषय है। श्रुत का अर्थ है — शब्द, संकेत आदि से होने वाला ज्ञान। 'कुर्सी' शब्द सुनना कान का काम है। 'कुर्सी' अर्थ को देखना आंख का काम है। पर 'कुर्सी' वाचक का संबंध अमुक अर्थ से है अथवा अमुक पदार्थ 'कुर्सी' शब्द से वाच्य है, यह ज्ञान मन के बिना नहीं हो सकता। इसलिए सारा शब्दाश्रयी ज्ञान-श्रुतज्ञान मुख्यत: मन का विषय है।

इन्द्रिय और मन में अंतर (Difference in sense and mind)

जैन दर्शन के अनुसार इन्द्रियों की गति अपने नियत विषय तक ही होती है अर्थात् आंख केवल देखने का काम कर सकती है और कान केवल सुनने का काम कर सकते हैं पर नन की गति सभी विषयों में होती है। इन्द्रियां केवल वर्तमान काल को ग्रहण करती हैं जबकि मन तीनों कालों को ग्रहण करता है। इन्द्रियों की गति केवल स्थूल मूर्त्त पदार्थों तक है जबकि मन की गति मूर्त्त-अमूर्त्त, सूक्ष्म-स्थूल सभी पदार्थों में हैं। वस्तुत: देखा जाये तो अवग्रह ही इन्द्रियों का कार्य है। ईहा, अवाय आदि मन के अभाव में नहीं हो सकते क्योंकि ईहा में पर्यालोचन नहीं होता पर चिंतन प्रारंभ हो जाता है, अत: यह मानना चाहिए कि जहां से चिंतन, विकल्प, अन्तर्जल्प प्रारंभ हो जाता है, वहां से मन का विषय प्रारंभ हो जाता है अत: ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, आगम, आदि सभी मानसिक विकास के विविध पहलू हैं।

6.3 मन के प्रकार (Types of mind)

इन्द्रियों की भांति मन भी दो प्रकार का है —

1. द्रव्य मन,
2. भाव मन।

6.3.1 द्रव्य मन (Physical Mind)

भावमन को प्रवृत्त करने के लिए जो बाह्य पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं, वे द्रव्यमन हैं। द्रव्यमन पुद्गलरूप होने से अजीव हैं तथा अनित्य है। द्रव्यमन सूक्ष्म है अत: वह सामान्य चर्म चक्षुओं का विषय नहीं बनता फिर भी विशिष्ट अतीन्द्रिय ज्ञानी-अवधिज्ञानी, मन:पर्यवज्ञानी आदि उसे साक्षात् देख सकते हैं।

6.3.2 भावमन (Psychical Mind)

जो चिंतन-मनन रूप आत्मा का विचार है, वह भावमन है। भावमन संज्ञानात्मक होता है। वह आत्मपरिणति होने से चेतन है। आत्मा के समान ही परिणामी नित्य (नित्यानित्य) एवं अमूर्त्त है। अत: केवलज्ञान के अतिरिक्त किसी भी ज्ञान के प्रत्यक्ष योग्य नहीं है।

भावमन दो प्रकार का है — लब्धिमन और उपयोगमन। मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो विचारशक्ति मिली है, वह लब्धिमन है तथा उस विचारशक्ति का चिंतन-मनन रूप जो उपयोग होता है वह उपयोगमन है। योगशास्त्रकार द्रव्यमन का स्थान वायु की तरह समूचे शरीर में मानते हैं जबकि दिगम्बराचार्य इसका स्थान हृदय कमल में मानते हैं।

मन का स्वरूप (Nature of Mind)

मन के स्वरूप के विषय में मुख्यत: तीन अवधारणाएं हैं। न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसक मत के अनुसार मन नित्य है, जबकि सांख्ययोग एवं वेदान्त दर्शन मन को अनित्य मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार कोई भी पदार्थ सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य नहीं होता, अत: अन्य तत्त्वों की भांति मन का स्वरूप भी परिणामी नित्य (नित्यानित्य) माना गया है।

6.4 मन का कारण एवं परिमाण (Cause and Size of Mind)

मन के कारण एवं परिमाण के विषय में भी भारतीय दर्शनों में मुख्यत: तीन अवधारणाएं प्रचलित हैं — न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसक मत के अनुसार मन परमाणु रूप है तथा नित्य होने के कारण उसका कोई कारण नहीं है। सांख्य-योग एवं वेदान्त मत के अनुसार मन का परिमाण अणु जितना है। सांख्य-योग के अनुसार मन का कारण जड़ रूप

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रकृति है तथा वेदान्त में मन की उत्पत्ति माया (अविद्या) से होती है। जैन दर्शन के अनुसार मन मध्यम परिमाण या देहपरिमाण है। वह चेतन और अचेतन की संयुक्त परिणति है।

भारतीय दर्शन में मन के स्वरूप, परिमाण, कारण और स्थान को इस चार्ट के माध्यम से समझ सकते हैं—

दर्शन	स्वरूप	परिमाण	कारण	स्थान
1. न्याय	नित्य	परमाणु	कारण रहित	हृदय
2. वैशेषिक	नित्य	परमाणु	कारण रहित	हृदय
3. मीमांसक	नित्य	परमाणु	कारण रहित	हृदय
4. सांख्य	अनित्य	अणु	प्रकृति (अहंकार)	सूक्ष्म शरीर
5. योग	अनित्य	अणु	प्रकृति (अहंकार)	सूक्ष्म शरीर
6. वेदान्त	अनित्य	अणु	अविद्या	सूक्ष्म शरीर
7. बौद्ध	क्षणिक	मध्यम परिमाण	विज्ञान	हृदय
8. जैन	परिणामी नित्य	मध्यम परिमाण	द्रव्यमन-पुद्गल भाव मन-आत्मा	हृदय-दिगम्बर सम्पूर्ण शरीर-श्वेताम्बर

6.5 सारांश -अस्तुजैनदर्शन में प्रमाण और प्रमाण के भेदों का जो विवेचन उपलब्ध होता है उसे हम निम्न चार्ट से समझ सकते हैं:—

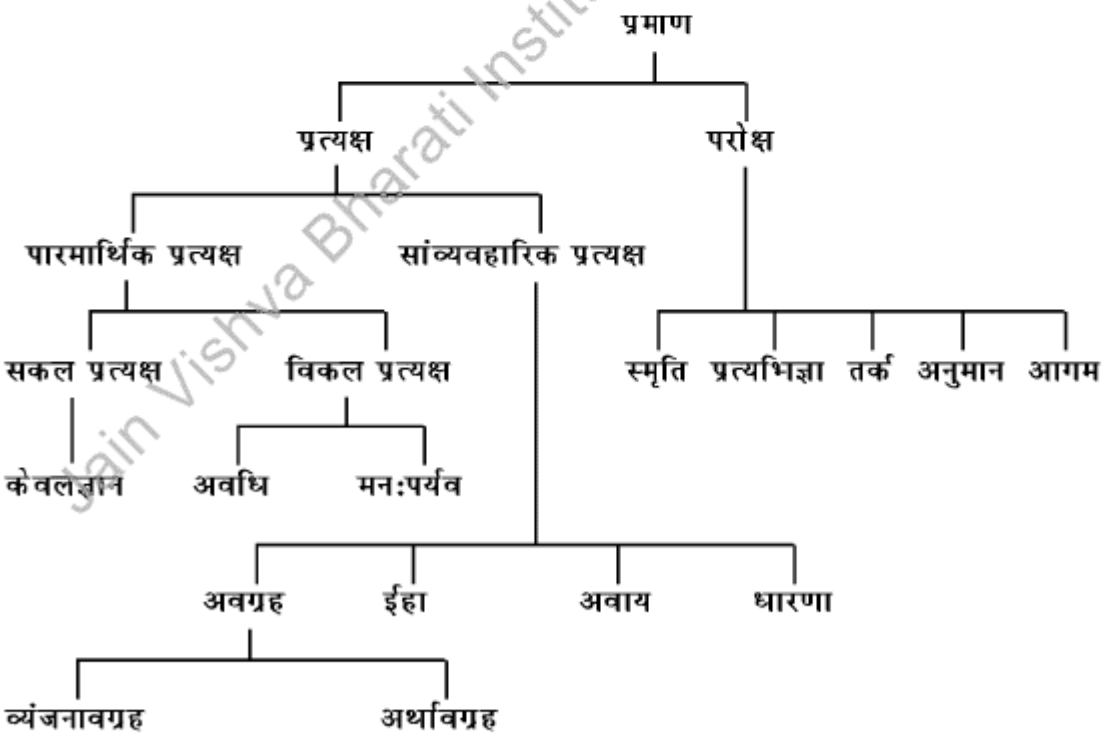

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

6.6 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का विवेचन करते हुए स्पष्ट करें कि यह समन्वय का फलित है?
2. जैन दर्शन के अनुसार इन्द्रिय का विवेचन करें?
3. जैन दर्शन के अनुसार मन का विवेचन करें?

प्रश्न–2. लघूत्तरात्मक प्रश्न (टिप्पणी)

1. द्रव्येन्द्रिय
2. अवग्रह
3. मन

प्रश्न–3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. इन्द्रिय किसे कहते हैं?
2. रसनेन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार कैसा है?
3. मन का कार्य क्या है?
4. मन का कारण क्या है?
5. इन्द्रिय प्राप्ति का क्रम क्या है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–5 : परोक्ष प्रमाण–स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम (Non-Perceptual Cognition)

संरचना

1.0 उद्देश्य

1.1 परोक्ष प्रमाण

1.2 परोक्ष प्रमाण के भेद

2.1 स्मृति का स्वरूप

2.2 स्मृति प्रमाण या अप्रमाण

3.1 प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप

3.2 प्रत्यभिज्ञा प्रमाण या अप्रमाण

4.1 तर्क

4.2 तर्क प्रमाण या अप्रमाण

5.1 अनुमान

5.2 अनुमान के भेद

5.3 अनुमान के अवयव

- 5.3.1 प्रतिज्ञा
- 5.3.2 हेतु
- 5.3.3 उदाहरण
- 5.3.4 उपनय
- 5.3.5 निमगन

5.4 हेतु (साधन) का स्वरूप

5.5 हेतु के प्रकार

- 5.5.1 सहभाव अविनाभाव
- 5.5.2 क्रमभाव अविनाभाव

5.6 हेत्वाभास

5.7 हेत्वाभास के प्रकार

5.8 साध्य का स्वरूप

5.9 दृष्टान्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.10 दृष्टान्ताभास

5.10.1 अन्वयी दृष्टान्ताभास

5.10.2 व्यतिरेकी दृष्टान्ताभास

5.11 अनुमान का आधार–व्याप्ति

6.1 आगम

6.2 आगम के प्रकार

बोध प्रश्न

प्रस्तावना (Introduction)

प्रमेय (वस्तु) का ज्ञान प्रमाण से होता है। प्रमेय का अस्तित्व स्वत:सिद्ध है किंतु उसके अस्तित्व का बोध प्रमाण के द्वारा ही संभव है अत: न्यायशास्त्र का यह सार्वभौम नियम ही है **'मानाधीना हि मेयसिद्धि:'** अर्थात् प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन है। जब तक प्रमाण का निर्णय नहीं होता, तब तक प्रमेय की स्थापना नहीं की जा सकती है इसलिए दर्शन जगत् में सर्वप्रथम प्रमाण की चर्चा की जाती है।

जैनदर्शन प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणों को स्वीकार करता है। प्रत्यक्ष को चार्वाक सहित सभी भारतीय चिंतकों ने मान्य किया है। यद्यपि चार्वाक इन्द्रियों से होने वाले प्रत्यक्ष को ही स्वीकार करता है, जबकि अन्य दार्शनिक अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अर्थात् आत्मा से होने वाले प्रत्यक्ष को भी स्वीकृति देते हैं। प्रमाण के दो भेदों में से परोक्ष प्रमाण का विवेचन इस इकाई में किया जा रहा है। परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं — स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम।

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप —

* प्रमाण के दूसरे भेद परोक्ष प्रमाण के स्वरूप को जान सकेंगे।
* परोक्ष प्रमाण के पांच भेद — स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम का ज्ञान कर सकेंगे।
* अन्य दर्शनों में इन्हें प्रमाण नहीं माना गया, इसके पीछे दिये गए तर्कों से परिचित हो सकेंगे।
* हेतु और हेत्वाभाव को जान सकेंगे।
* दृष्टान्त और दृष्टान्ताभास को जान सकेंगे।

1.1 परोक्ष प्रमाण (Indirect Cognition Non-perceptual)

जैनदर्शन में प्रमाण का दूसरा भेद परोक्ष प्रमाण है। प्रमाण के क्षेत्र में 'प्रत्यक्ष' प्रमाण की चर्चा सभी दर्शनों ने की है अर्थात् 'प्रत्यक्ष' शब्द सभी ने स्वीकार किया है किंतु 'परोक्ष' शब्द का प्रयोग मात्र जैन तार्किकों ने किया है। जैसाकि आप पहले पढ़ चुके हैं कि जैन दर्शन में आत्मा से सीधे होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष और इन्द्रिय, मन आदि की सहायता से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहा है अत: जैन दर्शन में प्रयुक्त 'परोक्ष' शब्द का व्यवहार और उसकी परिभाषा दूसरों को कुछ विलक्षण सी मालुम होती है क्योंकि व्यवहार में इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है तथा इन्द्रियों के अतिरिक्त किसी अन्य के माध्यम से होने वाला ज्ञान परोक्ष कहा जाता है जबकि जैन दर्शन इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को भी परोक्ष कहता है अत: जैन सम्मत 'परोक्ष' की परिभाषा कुछ विलक्षण–सी प्रतीत होती है।

जैन परम्परा में आगम युग तक 'अक्ष' का तात्पर्य जीव (आत्मा) माना जाता था किंतु कालान्तर में 'अक्ष' का तात्पर्य इन्द्रिय और जीव दोनों माना जाने लगा इसलिए भिक्षु न्याय कर्णिका में कहा गया — **'अक्षेभ्योऽक्षाद्वा परतो वर्तते इति परोक्षम्'** — जो ज्ञान साक्षात् इन्द्रिय और आत्मा से नहीं होता, वह परोक्ष कहलाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परस+अक्ष से परोक्ष शब्द निष्पन्न होता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार से भी की जा सकती है—**'परैः उक्ष्यते सिच्यते इति परोक्षः'** अर्थात् दूसरों के द्वारा पोषित (सिंचित) ज्ञान परोक्ष है।

प्रमाणमीमांसा में आचार्य हेमचन्द्र ने परोक्ष को परिभाषित करते हुए लिखा—**'अविशदः परोक्षम्'**— अविशद ज्ञान परोक्ष है। अविशद से तात्पर्य यह है कि जिस ज्ञान में दूसरे प्रमाणों की अपेक्षा रहती है तथा जो तद्तया (That) प्रतिभास होता है वह अविशद है। भिक्षु न्याय कर्णिका में **'साहाय्यापेक्षं परोक्षम्'**— जिसमें दूसरों की सहायता की अपेक्षा होती है, उसे परोक्ष कहा है।

1.2 परोक्ष प्रमाण के भेद (Types of Indirect Cognition)

जैन दर्शन के अनुसार वे सभी ज्ञान जो पर सापेक्ष अर्थात् दूसरों की अपेक्षा रखते हैं वे सभी परोक्ष में परिगणित होते हैं। इस प्रकार परोक्ष का क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक है। परोक्ष प्रमाण के भेदों का उल्लेख करते हुए लिखा गया—**'स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विधयः'**— परोक्ष प्रमाण के मुख्य पांच भेद हैं—

1. स्मृति,
2. प्रत्यभिज्ञान,
3. तर्क,
4. अनुमान,
5. आगम।

स्मृति धारणामूलक, प्रत्यभिज्ञान स्मृति एवं प्रत्यक्षमूलक, तर्क प्रत्यभिज्ञानमूलक तथा अनुमान तर्क निर्णीत साधनमूलक होते हैं, इसलिए ये परोक्ष हैं। आगम वचनमूलक होता है इसलिए परोक्ष है। ये सभी परोक्ष के लक्षण में ही समाविष्ट होने के कारण इनका स्वतंत्र प्रमाण जैनों को इष्ट नहीं है अतः परोक्ष के भेद के रूप में ही इन्हें समझना चाहिए।

जैन दर्शन में प्रत्यक्ष और परोक्ष का विभाजन विशदता और अविशदता के आधार पर किया गया है। दोनों ही प्रमाणों में ज्ञान यथार्थ होता है। कार्य-कारण भाव की दृष्टि से देखा जाये तो सभी ज्ञान चाहे वे प्रत्यक्ष हों या परोक्ष एक ही सूत्र में आबद्ध हैं। यथा अवग्रह कारण है, ईहा उसका कार्य है। ईहा कारण है तो अवाय उसका कार्य है। अवाय कारण है तो धारणा उसका कार्य है। धारणा कारण है तो स्मृति उसका कार्य है। स्मृति कारण है तो प्रत्यभिज्ञान उसका कार्य है। प्रत्यभिज्ञान कारण है तो तर्क उसका कार्य है। तर्क कारण है तो अनुमान उसका कार्य है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व का ज्ञान कारण और उत्तर-उत्तर का ज्ञान कार्य कहलाता है। अब हम परोक्ष के भेदों पर क्रमशः विचार करेंगे।

स्मृति (Recollection)

2.1 स्मृति (Recollection)

परोक्ष प्रमाण का पहला भेद है—स्मृति। स्मृति को परिभाषित करते हुए कहा गया है—**'संस्कारोद्बोधसंभवा तदित्याकारा स्मृतिः'**— संस्कारों का जागरण होने पर 'तत्' इस आकार वाला जो ज्ञान होता है, वह स्मृति है। जैसे—वह नीलगिरी, वह राजगृह आदि। स्मृति की परिभाषा से तीन बातें फलित होती हैं—

1. स्मृति का कोई न कोई कारण होता है।
2. स्मृति का कोई न कोई विषय होता है।
3. स्मृति का कोई न कोई स्वरूप होता है।

1. स्मृति का कारण (Cause of Recollection)

'स्मृतिर्हेतुधारणा' स्मृति का कारण धारणा है। धारणा, संस्कार, वासना आदि पर्यायवाची शब्द हैं। हर व्यक्ति के भीतर अनन्त जन्मों के संस्कार होते हैं। जब तक वे अस्तित्व के रूप में पड़े रहते हैं तब तक वे स्मृति के हेतु नहीं बनते किंतु जब उन संस्कारों का जागरण होता है तभी वे स्मृति के हेतु बनते हैं। हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं या पढ़ते हैं वैसे ही संस्कार हमारे मस्तिष्कीय प्रकोष्ठों में निर्मित हो जाते हैं और वे ही संस्कार जब किसी निमित्त को पाकर जागृत हो जाते हैं तब हमें उस वस्तु की स्मृति होती है। अतः स्मृति का मूल कारण संस्कारों का जागरण है।

2. स्मृति का विषय (Subject of Recollection)

हर प्रमाण का कोई न कोई विषय होता है क्योंकि विषय के अभाव में प्रमाण का भी अस्तित्व नहीं रह सकता। जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय वर्तमान पदार्थ हैं उसी प्रकार स्मृति का विषय अनुभूत पदार्थ हैं। जिस विषय को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)-Ladnun

आज हमने प्रत्यक्ष देखा है या सुना है, उस विषय के संस्कार हमारे मस्तिष्क में निर्मित हो जाते हैं और कालान्तर में वे ही संस्कार जब जागृत होते हैं तो हमें उनकी स्मृति हो जाती है। अत: स्मृति का विषय है — अनुभूत पदार्थ।

3. स्मृति का स्वरूप (Nature of Recollection)

तदित्याकारा स्मृति: — 'तत्' स्मृति का स्वरूप है। 'तत्' अर्थात् 'वह'। प्रत्यक्ष का स्वरूप 'यह' (This) होता है। जबकि स्मृति का स्वरूप 'वह' (That) होता है। जब भी हम स्मृति करते हैं तो वह (स्मृति) 'तत्' के रूप में ही होती है।

2.2 स्मृति प्रमाण या अप्रमाण (Recollection is valid or invalid cognition)

स्मृति के लक्षण और स्वरूप पर विचार करने के बाद अब हमें यह विचार करना है कि स्मृति प्रमाण है या अप्रमाण। स्मृति का हमारे दैनन्दिन जीवन में उपयोगितापूर्ण स्थान है। इसकी उपयोगिता प्राचीन और अर्वाचीन सभी विचारधाराओं में एकमत से मान्य रही है किन्तु स्मृति प्रमाण है या अप्रमाण, इस सन्दर्भ में दो परम्पराएँ हैं — जैन और जैनेतर। जैन परम्परा में स्मृति प्रमाण रूप से स्वीकृत है तथा उसका परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत विस्तृत विवेचन होता है। जैनेतर परम्परा में वैदिक, बौद्ध आदि सभी दर्शन स्मृति को प्रमाण नहीं मानते। स्मृति को प्रमाण न मानने वाली ये विचारधारायें भी इसे अप्रमाण या मिथ्याज्ञान नहीं कहते पर वे प्रमाण शब्द से केवल उसका व्यवहार नहीं करते।

स्मृति के प्रामाण्य-अप्रामाण्य की चर्चा वैदिक परम्परा में मान्य मनुस्मृति आदि ग्रंथों के संदर्भ में शुरू होती है किंतु कालान्तर में यह चर्चा स्मृति (Memory) प्रमाण या अप्रमाण के रूप में दर्शन शास्त्रों में विकसित होती है। जैनेतर दर्शनों में स्मृति को प्रमाण न मानने के भिन्न-भिन्न हेतु दिये गये हैं। यथा —

* वैदिक परम्परा में एकमात्र वेदों का ही प्रामाण्य माना गया है और वेदों को अपौरुषेय अर्थात् किसी पुरुष द्वारा कृत नहीं है, ऐसा माना गया है। उनके अनुसार मनुस्मृति आदि वहीं तक प्रमाण हैं, जहां तक वे श्रुतिमूलक हैं, वेदों पर आधारित हैं। अत: स्मृति का प्रामाण्य श्रुति (वेद) के अधीन है, स्वतंत्र नहीं। यदि वे स्मृति आदि के स्वतंत्र प्रमाण को स्वीकार करते हैं तो उनके वेदों के प्रामाण्य पर एक प्रश्नचिह्न लगता है, अत: उन्होंने स्मृति के स्वतंत्र प्रामाण्य का ही निषेध ा कर दिया।

* बौद्धों ने भी स्मृति को प्रमाण नहीं माना। उसे प्रमाण न मानने के पीछे उनका यह तर्क था कि स्मृति पूर्व अनुभव के अधीन होती है इसलिए वह प्रमाण नहीं हो सकती। प्रमाण वह ज्ञान होता है जो अपूर्व अर्थ (पहले न जाने गये पदार्थ) को जानता है। स्मृति में अपूर्वता नहीं होती अत: वह प्रमाण नहीं है।

* कुमारिल आदि मीमांसक के अनुसार भी स्मृति प्रमाण नहीं है। उसे प्रमाण न मानने के पीछे भी उनका यही हेतु है कि स्मृति गृहीतग्राही ज्ञान है। गृहीतग्राही का तात्पर्य है — ग्रहण किये हुए ज्ञान को ही पुन: ग्रहण करना। स्मृति में पहले ग्रहण किये हुए ज्ञान को ही पुन: ग्रहण किया जाता है। उसमें अपूर्वता नहीं होती, अत: वह प्रमाण नहीं है।

* न्याय दर्शन के मनीषी जयन्त ने भी स्मृति के प्रामाण्य का निषेध किया। उन्होंने निषेध का कारण गृहीतग्राहिता को नहीं माना अपितु स्मृति को प्रमाण न मानने का यह हेतु दिया कि वह पदार्थ से उत्पन्न नहीं होती जबकि ज्ञान को पदार्थ से उत्पन्न होना चाहिए। स्मृति करते समय पदार्थ हमारे सामने नहीं रहता अत: वह प्रमाण नहीं है, जैसाकि न्यायमंजरी में लिखा है —

न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम्।
अपित्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम्।।

गृहीतग्राही होने के कारण स्मृति अप्रमाण है, ऐसी बात नहीं है अपितु उसके अप्रामाण्य का कारण पदार्थ से उत्पन्न न होना है।

* वाचस्पति ने स्मृति को प्रमाण न मानने के लिए एक अन्य ही युक्ति दी। उनके अनुसार लोकव्यवहार स्मृति को प्रमाण मानने के पक्ष में नहीं है, अत: वह प्रमाण नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनेतर दार्शनिकों ने स्मृति को प्रमाण न मानने के लिये भिन्न-भिन्न युक्तियों का प्रयोग किया, यथा — अपूर्वता, गृहीतग्राहिता, अनर्थजन्य, लोकव्यवहार का अभाव इत्यादि।

जैन तार्किक स्मृति को प्रमाण मानते हैं और परोक्षप्रमाण के भेदरूप से उसकी व्याख्या करते हैं। वे स्मृति को प्रमाण न माानने वाले दार्शनिकों द्वारा दी गई उपर्युक्त युक्तियों का निराकरण भी करते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार संवादी (यथार्थ) होने से प्रत्यक्ष आदि प्रमाण हैं उसी प्रकार स्मृति भी संवादी (यथार्थ) होने से प्रमाण है। स्मृति के प्रामाण्य की कसौटी व्यवहार-प्रवर्तन है। हम अपना अधिकांश व्यवहार स्मृति के आधार पर ही चलाते हैं। जैसे — पानी पीया और प्यास बुझ गई या भोजन किया और भूख शान्त हो गई। इस पूर्वानुभव की स्मृति के आधार पर ही हमें जब भी प्यास लगती है, हम पानी पी लेते हैं। हम किसी से पूछते नहीं कि हमें प्यास लगी है या भूख लगी है, हम पानी पी लें या भोजन कर लें क्या? इससे हमारी भूख-प्यास शान्त हो जायेगी क्या? स्मृति के आधार पर किया गया हमारा हर व्यवहार जब यथार्थ होता है तब उसके प्रामाण्य का निरास कैसे किया जा सकता है। यद्यपि कुछ लोग यहां यह तर्क देते हैं कि कभी-कभी स्मृति गलत भी हो जाती है। वह यथार्थ नहीं होती अत: उसे प्रमाण कैसे माना जाये? इसका समाधान यही है कि कभी-कभी गलत आभास तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में भी हो जाता है। जैसे — कभी उड़ती हुई धूल को दूर से देखने पर ऐसा लगता है कि धुंआ उठ रहा है या पीलिया होने के कारण हर चीज पीली ही दिखाई देती है। वास्तव में धुंआ दिखाई देने पर भी वहां धुंआ नहीं होता और पीलिये में हर चीज पीली दिखाई देने पर भी पीली नहीं होती अत: ऐसा अयथार्थ ज्ञान तो प्रत्यक्ष में भी हो जाता है। अब यदि कोई यह तर्क दे कि प्रत्यक्ष से होने वाले इस प्रकार के गलत ज्ञान को हम प्रत्यक्षाभास कहते हैं अर्थात् उसे वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं तो यह बात स्मृति के संदर्भ में भी कही जा सकती है। कभी-कभी स्मृति के अयथार्थ होने पर उसे भी स्मृत्याभास अर्थात् वास्तविक स्मृति नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है।

जैनेतर तार्किकों ने स्मृति को प्रमाण न मानने में जो युक्तियां दीं या आक्षेप लगाये, जैन तार्किकों ने उक्त आक्षेपों की समीक्षा इस प्रकार की —

* वैदिक परम्परा में वेदों को ही एकमात्र प्रमाण माना गया है। वे वेद को अपौरुषेय (पुरुष द्वारा कृत नहीं) मानते हैं। जैनों के अनुसार वेदों की अपौरुषेयता ही प्रमाण सिद्ध नहीं है क्योंकि वेद शब्द हैं और शब्द पुरुष के कण्ठ, तालु, जिह्वा आदि अष्ट स्थानों से ही उच्चरित होते हैं, बोले जाते हैं अत: जब वेदों की अपौरुषेयता ही संदिग्ध हैं तो उसमें कथित बातें कैसे असंदिग्ध हो सकती हैं?

* मीमांसक, बौद्ध आदि के अनुसार स्मृति गृहीतग्राही होने के कारण अपूर्व अर्थ का प्रकाशक नहीं है अत: अप्रमाण है। जैनों ने इस आक्षेप का निराकरण करते हुए कहा कि गृहीतग्राही होने मात्र से या अपूर्व (नये) अर्थ का प्रकाशक न होने मात्र से किसी को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। यदि गृहीतग्राही होने मात्र से ही उसे अप्रमाण कहा जाये तब तो फिर यदि किसी व्यक्ति ने पहले पर्वत पर उठते हुए धुंए को देखकर वहां अग्नि है ऐसा अनुमान से जाना और फिर उस स्थान पर जाकर अनुमान से जानी हुई अग्नि को प्रत्यक्ष से जाना तो वह प्रत्यक्ष भी अप्रमाण ही कहलायेगा क्योंकि यहां पर भी गृहीतग्राहिता होने के कारण अपूर्वता नहीं है। क्योंकि जिस अग्नि को अनुमान से जाना गया था उसी को ही प्रत्यक्ष से जाना गया है। यदि ऐसा कहा जाये कि अनुमान से जानी हुई अग्नि को प्रत्यक्ष से जानने पर उसमें कुछ अपूर्वता रहती है अत: प्रत्यक्ष प्रमाण है तो फिर स्मृति को क्यों अप्रमाण मानते हैं। यह युक्ति तो स्मृति पर भी लागू होती है अर्थात् प्रत्यक्ष से जानी हुई वस्तु को स्मृति से जानने पर उसमें भी कुछ अपूर्वता रहती ही है। अत: स्मृति भी प्रमाण है।

* नैयायिकों ने स्मृति को प्रमाण न मानने के लिए यह हेतु दिया था कि स्मृति पदार्थजन्य नहीं है अत: वह अप्रमाण है। नैयायिकों की इस युक्ति को मानने पर अनुमान को प्रमाण मानने में भी कठिनता होगी। जैसे सुबह नदी में बाढ़ देखकर रात्रि में वर्षा होने का अनुमान किया जाता है। यहां इस अनुमान में वर्षा को हमने प्रत्यक्ष देखा नहीं था, फिर भी वर्षा का अनुमान कर लिया, तो यह अनुमान कैसे संभव होगा? पर हम ऐसा अनुमान करते हैं, अत: अर्थजन्य न होने पर भी स्मृति को प्रमाण ही मानना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्मृतिज्ञान प्रमाण है, क्योंकि उसका अपना स्वरूप, कारण, विषय एवं प्रयोजन है। प्रमाण का आधार अपूर्वता, अगृहीतग्राहिता या अर्थजन्यता नहीं अपितु प्रमाण की कसौटी अविसंवादिता (यथार्थ ज्ञान) है और वह अविसंवादिता स्मृति में पायी जाती है अत: वह प्रमाण है।

प्रत्यभिज्ञा (Recognition)

3.1 प्रत्यभिक्षा

परोक्ष प्रमाण का दूसरा भेद प्रत्यभिज्ञा है। प्रत्यभिज्ञा को परिभाषित करते हुए कहा गया — **'अनुभवस्मृतिसंभवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि संकलनं प्रत्यभिज्ञा'** अर्थात् जो अनुभव (प्रत्यक्ष) और स्मृति के योग से उत्पन्न होता है। जैसे — यह वही है, यह उसके समान है, यह उससे विलक्षण है, यह उसका प्रतियोगी है, ऐसे संकलनात्मक ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। प्रत्यभिज्ञा की इस परिभाषा में तीन बातें फलित होती हैं —

1. प्रत्यभिज्ञा का कोई न कोई कारण होता है।
2. प्रत्यभिज्ञा का कोई न कोई विषय होता है।
3. प्रत्यभिज्ञा का कोई न कोई स्वरूप होता है।

1. प्रत्यभिज्ञा का कारण (Cause of Recognition)

स्मृति का कारण जहां केवल धारणा ही है, वहां प्रत्यभिज्ञा के दो कारण हैं — प्रत्यक्ष और स्मृति।

2. प्रत्यभिज्ञा का विषय (Subject of Recognition)

स्मृति का विषय जहां अनुभूत पदार्थ है, वहां प्रत्यभिज्ञा का विषय स्मृति और प्रत्यक्ष इन दोनों अवस्थाओं के बीच रहा एकत्व है।

3. प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप (Nature of Recognition)

स्मृति का स्वरूप जहां 'वह मनुष्य' हैं, वहां प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप 'यह वही मनुष्य' हैं। 'यह वही मनुष्य हैं' इस वाक्य में 'यह मनुष्य' इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय है और 'वही' स्मृति में है। इन दोनों का योग होने पर जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यभिज्ञा है।

प्रत्यभिज्ञा में दो अर्थों का संकलन होता है। यद्यपि सूत्र में प्रत्यक्ष और स्मरण के संकलन से होने वाले ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहा है फिर भी उसके दो रूप और बन सकते हैं। अत: प्रत्यभिज्ञा के तीन रूप बनते हैं —

1. प्रत्यक्ष और स्मृति का संकलन।
2. दो प्रत्यक्षों का संकलन। प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष का संकलन।
3. दो स्मृतियों का संकलन। स्मृति और स्मृति का संकलन।

1. प्रत्यक्ष और स्मृति का संकलन (Collection of Perception and Recollection)

प्रत्यक्ष और स्मृति का संकलन होने पर प्रत्यभिज्ञा के चार रूप बनते हैं — 1. 'एकत्व प्रत्यभिज्ञा', 2. 'सादृश्य प्रत्यभिज्ञा', 3. 'वैसदृश्य प्रत्यभिज्ञा' और 4. 'प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञा' इन चारों को उदाहरण से इस प्रकार समझा जा सकता है —

1. एकत्व प्रत्यभिज्ञा — यह वही वलभी है जहां देवर्धिगणी ने आगम वाचना की थी। इसमें वलभी की वर्तमान अवस्था का अतीत की अवस्था के साथ संकलन है, अत: यह 'एकत्व प्रत्यभिज्ञा' है।

2. सादृश्य प्रत्यभिज्ञा — नीलगाय गाय के समान होती है। इसमें दृष्ट वस्तु 'नीलगाय' की पूर्व दृष्ट 'गाय' से तुलना है। इसलिए यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3. वैसदृश्य प्रत्यभिज्ञा — महिष (भैंस) गौ से विलक्षण होता है। इसमें दृष्ट वस्तु महिष की पूर्व दृष्ट गौ से विलक्षणता है, अत: यह वैसदृश्य प्रत्यभिज्ञा है।

4. प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञा — यह वस्तु उससे दूर है, यह उससे निकट है। इसमें दृष्ट वस्तु 'यह' पूर्व दृष्ट वस्तु की प्रतियोगी है, अत: यह प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञा है।

2. दो प्रत्यक्षों का संकलन (Collection of two Perception)

प्रत्यक्ष और स्मृति के संकलन की भांति दो प्रत्यक्षों के संकलन से भी प्रत्यभिज्ञा के तीन रूप बनते हैं। जैसे—

1. यह इसके सदृश है — दो एक समान वस्तुएँ प्रत्यक्ष होने पर, पहली वस्तु दूसरी वस्तु के सदृश है। ऐसा ज्ञान होना सदृश प्रत्यभिज्ञा है।

2. यह इससे विलक्षण है — दो अलग-अलग वस्तुएँ सामने होने पर पहली वस्तु दूसरी वस्तु से विलक्षण है। ऐसा ज्ञान होना विसदृश प्रत्यभिज्ञा है।

3. यह इससे छोटा है — दो वस्तुएँ सामने होने पर पहली वस्तु दूसरी वस्तु से छोटी है, ऐसा ज्ञान होना प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञा है।

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों में दोनों प्रत्यक्ष हैं अर्थात् दो प्रत्यक्षों के संकलन से प्रत्यभिज्ञा हुई है।

3. दो स्मृतियों का संकलन (Collection of two Recollection)

दो प्रत्यक्षों की भांति दो स्मृतियों के संकलन से भी प्रत्यभिज्ञा होती है। उसके भी तीन रूप बनते हैं, जैसे—

1. वह उसके सदृश है।

2. वह उससे विलक्षण है।

3. वह उससे छोटा है।

इसमें दोनों परोक्ष हैं अर्थात् दो स्मृतियों के संकलन से प्रत्यभिज्ञा हुई है।

3.2 प्रत्यभिज्ञा प्रमाण या अप्रमाण (Recognition is Valid or Invalid Cognition)

प्रत्यभिज्ञा के विषय में भी दार्शनिकों में मतभेद रहा है। जैनों के अतिरिक्त अन्य किसी ने भी प्रत्यभिज्ञा के स्वतंत्र प्रामाण्य को स्वीकार नहीं किया। यद्यपि न्यायदर्शन में 'उपमान' को एक स्वतंत्र प्रमाण माना गया है। उपमान प्रमाण को स्पष्ट करते हुए वे यही उदाहरण देते हैं कि नीलगाय गाय के सदृश होती है। जैन परम्परा के अनुसार यह 'उपमान' प्रमाण प्रत्यभिज्ञा का ही एक प्रकार है। क्योंकि इसमें नीलगाय या गाय का ज्ञान मुख्य नहीं अपितु उन दोनों के बीच रहा सादृश्य बोध मुख्य है। इसलिए यह ज्ञान प्रत्यभिज्ञा से भिन्न नहीं है। अत: उपमान प्रमाण का समावेश प्रत्यभिज्ञा में ही हो जाता है। उपमान प्रमाण में केवल सदृशता के आधार पर ही एकत्व का बोध किया जाता है किंतु विसदृशता, प्रतियोगी आदि का बोध करने के लिए अवकाश नहीं है अत: उपमान की अपेक्षा प्रत्यभिज्ञा का क्षेत्र व्यापक है।

क्षणिकवादी बौद्ध प्रत्यभिज्ञा के प्रमाण को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार प्रत्यभिज्ञा नामक कोई एक ज्ञान नहीं है, क्योंकि जब हम यह कहते हैं कि 'यह वही मनुष्य है' तब उसमें 'वही' यह ज्ञान स्मरण रूप होने से अस्पष्ट है और 'यह' ज्ञान प्रत्यक्ष रूप होने से स्पष्ट है अत: अस्पष्ट और स्पष्ट रूप दो विरोधी धर्मों का आधार एक ज्ञान नहीं हो सकता, अत: यह स्वतंत्र प्रमाण नहीं है।

जैन तार्किक इस तर्क को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार प्रत्यक्ष और स्मृति ये दोनों प्रत्यभिज्ञा के कारण हैं। उन दोनों कारणों से एक स्वतंत्र ज्ञान उत्पन्न होता है। उसी के द्वारा हम 'यह' और 'वह' के बीच में रहे हुए एकत्व को जानते हैं। उस एकत्व का बोध केवल प्रत्यक्ष से संभव नहीं होता अत: प्रत्यभिज्ञा को स्वतंत्र प्रमाण मानना आवश्यक है।

जैसे किसी व्यक्ति ने ताजमहल देखा और पांच वर्ष बाद वह पुन: ताजमहल देखता है तो वह कहता है कि यह वही ताजमहल है जो मैंने पांच वर्ष पूर्व देखा था। उसके इस कथन में पांच वर्ष पूर्व देखा गया ताजमहल स्मृति में है और वर्तमान में वह ताजमहल को प्रत्यक्ष देख रहा है तब वह यह कह रहा है कि यह वही ताजमहल है। केवल प्रत्यक्ष के आधार पर ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रत्यक्ष का कार्य वर्तमान अंश को जान लेने के बाद समाप्त हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसलिए प्रत्यक्ष के द्वारा दो अवस्थाओं के बीच रहे एकत्व का बोध नहीं होता। उसका बोध प्रत्यभिज्ञा से ही होता है अत: वह प्रमाण है।

संज्ञा और संज्ञी के संबंध का ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञा से होता है। जैसे— किसी व्यक्ति ने किसी व्यक्ति को बताया, जो दूध और पानी को अलग करे, वह हंस होता है। वक्ता के ये शब्द सुनकर उसके मन में एक संस्कार निर्मित हो गया। एक दिन उसने देखा कि एक पक्षी की चोंच प्याली में पड़ी और दूध फट गया। प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों का योग हुआ और उसे संज्ञा तथा संज्ञी (हंस शब्द और हंस शब्द वाच्य पक्षी) के संबंध का ज्ञान हो गया। इस प्रकार स्मृति और प्रत्यक्ष के निमित्त से होने वाले जितने भी संकलनात्मक ज्ञान हैं वे सब प्रत्यभिज्ञा के ही प्रकार हैं।

प्रत्यभिज्ञा ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि उसका अपना स्वरूप, कारण तथा विषय है। प्रत्यभिज्ञा में भी यथार्थ ज्ञान होता है, अत: वह भी प्रमाण है।

तर्क (Inductive Reasoning)

4.1 तर्क (Inductive Reasoning)

परोक्ष प्रमाण का तीसरा प्रकार तर्क है। 'तर्क' भारतीय दर्शन का सुपरिचित शब्द है। चिंतन के क्षेत्र में इसका महत्त्व बहुत पहले से रहा है। न्यायशास्त्र में इसका विशेष महत्त्व है। तर्क को परिभाषित करते हुए कहा गया— **'अन्वयव्यतिरेकनिर्णयस्तर्क:'**— अन्वय और व्यतिरेक के निर्णय को तर्क कहा जाता है। इस परिभाषा में दो शब्द हैं— अन्वय और व्यतिरेक, जिन्हें समझना आवश्यक है।

अन्वय साधन के होने पर साध्य का होना अथवा साध्य में ही साधन का होना 'अन्वय' है। साध्य साधन की चर्चा विस्तार से हम अनुमान प्रमाण में पढ़ेंगे। यहां हम इतना ही समझें कि 'साधन के होने पर साध्य का होना' इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि जहां-जहां साधन होता है वहां-वहां साध्य अवश्य होता है। उदाहरणार्थ— अग्नि रूपी साध्य को जानने में धुंआ साधन है, अत: जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि अवश्य होती है। इसलिए साधन के होने पर साध्य के होने को अन्वय कहा जाता है। इसे ही अन्वय व्याप्ति कहते हैं।

व्यतिरेक साध्य के अभाव में साधन का अभाव होना व्यतिरेक है, जैसे अग्नि के अभाव में धूम का अभाव होना। अग्नि साध्य है और धूम साधन है। अग्नि के अभाव में धुंए का भी अभाव होता है अत: साध्य के न होने पर साधन के न होने को व्यतिरेक कहा जाता है। इसे ही व्यतिरेक व्याप्ति कहते हैं।

तर्क का विषय (Subject of Inductive Reasoning)

अन्वय और व्यतिरेक के संबंध का ज्ञान तर्क से होता है अत: तर्क का विषय है व्याप्ति का ग्रहण करना। अनुमान के लिए व्याप्ति की अनिवार्यता होती है और व्याप्ति के लिए तर्क की अनिवार्यता होती है। क्योंकि तर्क के बिना व्याप्ति की सत्यता का निर्णय नहीं किया जा सकता। प्राय: सभी तर्क शास्त्रीय परम्पराएं तर्क के इस महत्त्व को स्वीकार करती हैं। उनमें यदि कोई मतभेद है तो वह इसके प्रामाण्य के विषय में है।

4.2 तर्क प्रमाण या अप्रमाण (Inductive Reasoning is Valid or Invalid Cognition)

जैन परम्परा में तर्क प्रमाण रूप से स्वीकृत है। इसका अपना स्वतंत्र कार्य है, इसलिए यह परोक्ष प्रमाण का तीसरा प्रकार है। जहां-जहां धूम होता है, वहां-वहां अग्नि होती है— यह व्याप्ति है। इस व्याप्ति का ज्ञान तर्क प्रमाण के द्वारा होता है, अत: यह प्रमाण है।

नैयायिकों के अनुसार व्याप्ति का ज्ञान तर्क से नहीं अपितु प्रत्यक्ष से ही हो जाता है। प्रत्यक्ष से जब हम धुंए को देखते हैं उसी समय धुंए और अग्नि के नियम की प्रतीति भी हमें हो जाती है। उस समय हमें ऐसा संशय नहीं होता कि यह धुंआ अग्नि से उत्पन्न हुआ है या किसी अन्य कारण से हुआ है, अत: व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही हो जाता है। इसके लिए तर्क को अलग से प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

जैन तार्किकों के अनुसार नैयायिकों का यह मन्तव्य 'प्रत्यक्ष से ही व्याप्ति का ग्रहण (ज्ञान) हो जाता है' उचित नहीं है। व्याप्ति का ग्रहण तर्क के द्वारा ही संभव है, प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं। फिर भी यदि मानलें कि प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ग्रहण होता है तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण होता है या मानस प्रत्यक्ष से। यदि कहें कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण होता है तो ऐसा मानना उचित नहीं, क्योंकि इन्द्रियां प्रतिनियत देश (स्थान) और प्रतिनियत काल में स्थित वस्तुओं के साथ ही संबंध स्थापित करती हैं, उन्हीं का ज्ञान करती हैं जबकि व्याप्ति समस्त देश और समस्त कालवर्ती अर्थ को लेकर होती है अत: इन्द्रिय प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ज्ञान संभव नहीं है।

मानस प्रत्यक्ष भी व्याप्ति का ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि इन्द्रियों की सहायता के बिना बाह्य पदार्थों में मन की प्रवृत्ति नहीं होती और व्याप्ति बाह्य पदार्थों का धर्म होने से बाह्य पदार्थ है। इसके अतिरिक्त न्यायदर्शन में मन को अणुरूप माना गया है अत: अणुरूप मन का एक साथ समस्त पदार्थों के साथ सम्बन्ध ही नहीं हो सकता तो फिर मन व्याप्ति का ग्राहक कैसे हो सकता है।

कुछ दार्शनिकों का मन्तव्य है कि व्याप्ति का ग्रहण अनुमान से हो जाता है अत: तर्क को अलग से प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। किंतु जैन तार्किकों के अनुसार अनुमान से भी व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता है क्योंकि अनुमान स्वयं व्याप्ति पर आधारित है। अत: वह व्याप्ति का निर्धारण नहीं कर सकता। व्याप्ति का ग्रहण करने के लिए तर्क को प्रमाण मानना आवश्यक है। तर्क के द्वारा ही धुएं और अग्नि के अविनाभाव का निर्णय होता है और अविनाभाव के निश्चित होने पर ही साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान अर्थात् अनुमान किया जा सकता है। अत: जैन परम्परा में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा की भांति तर्क के प्रामाण्य का भी समर्थन किया गया और उसे परोक्ष प्रमाण का तीसरा भेद माना गया है।

अनुमान (Inference)

5.1 अनुमान (Inference)

अनुमान न्यायशास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। चार्वाक के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शन अनुमान प्रमाण को स्वीकार करते हैं। अनुमान शब्द 'अनु' और 'मान' इन दो शब्दों के योग से बना है। 'अनु' अर्थात् पश्चात् (बाद में) और 'मान' अर्थात् ज्ञान। बाद में होने वाला ज्ञान अर्थात् प्रत्यक्ष के बाद होने वाला ज्ञान अनुमान है। भिक्षु न्याय कर्णिका में अनुमान को परिभाषित करते हुए लिखा गया — **'साधनात् साध्यज्ञानमनुमानम्'** — साधन से साध्य का ज्ञान करना अनुमान है।

अनुमान की इस परिभाषा से यह फलित होता है कि अनुमान के मुख्य दो अंग हैं — साधन और साध्य। साधन प्राय: प्रत्यक्ष होता है और साध्य परोक्ष होता है। हम पहले साधन (धूम) को प्रत्यक्ष देखते हैं फिर जहां-जहां धुंआ होता है, वहां-वहां अग्नि होती है, इस व्याप्ति की स्मृति करते हैं और उसके बाद साध्य (अग्नि) का ज्ञान करते हैं। उदाहरणार्थ **'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'** — पर्वत पर धुंआ है क्योंकि व्हां पर अग्नि है। इस अनुमान वाक्य में धूम साधन है और अग्नि साध्य है। जिसे सिद्ध करना होता है वह साध्य कहलाता है और जिससे सिद्ध किया जाता है वह साधन कहलाता है। पर्वत पर उठता हुआ धुंआ जो कि साधन है, वह हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है और उस धुंए को देखकर हम पर्वत पर अग्नि के होने का अनुमान कर लेते हैं।

5.2 अनुमान के भेद (Types of Inference)

जैनदर्शन में अनुमान के मुख्य दो भेद किये गये हैं —

1. स्वार्थानुमान (Inference for self),
2. परार्थानुमान (Inference for others)।

'स्वव्यामोह निवर्तनक्षमं स्वार्थम्' — जो अपने अज्ञान की निवृत्ति करने में समर्थ हो वह स्वार्थानुमान है और **'परव्यामोह निवर्तनक्षमं परार्थम्'** — जो दूसरों के अज्ञान को दूर करने में समर्थ हो वह परार्थानुमान है। दूसरे शब्दों में अनुमान के मानसिक क्रम को स्वार्थानुमान और वाचिक क्रम को परार्थानुमान कहते हैं। स्वार्थानुमान में अनुमान करने वाला स्वयं अपने संशय की निवृत्ति करता है और परार्थानुमान में दूसरों की संशय निवृत्ति के लिए कुछ वाक्यों का प्रयोग करता है, जिसे पंचावयव वाक्य कहते हैं। स्वार्थानुमान में व्यक्ति स्वयं धुएं को देखकर अग्नि का अनुमान कर लेता है। उसे किसी प्रकार के वचनों की सहायता लेनी नहीं पड़ती पर जब उसी बात का किसी दूसरे को अनुमान करवाना होता है तो उसे कुछ वाक्य बोलकर ही समझाया जा सकता है। वे वाक्य ही अनुमान के अवयव कहलाते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.3 अनुमान के अवयव (Five Syllogism)

अनुमान प्रमाण का उपयोग कोई व्यक्ति अपने लिए भी कर सकता है और दूसरों का बताने के लिए भी कर सकता है। दूसरों को बताने के लिए जब अनुमान का आश्रय लिया जाता है तब स्वाभाविक है कि उसे कुछ वाक्यों का प्रयोग करना होता है। इन्हीं वाक्यों को न्याय-अवयव या अनुमान-वाक्य या पंचावयव कहा जाता है। वे पांच अवयव निम्न हैं—

1. प्रतिज्ञा, 2. हेतु, 3. उदाहरण,
4. उपनय, 5. निगमन।

1. प्रतिज्ञा (Provable Proposition)

प्रतिज्ञा को परिभाषित करते हुए कहा गया—**'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा'**—जिस साध्य को हम सिद्ध करना चाहते हैं उस साध्य का निर्देश (कथन) करना प्रतिज्ञा है। यदि बिना प्रतिज्ञा (साध्य का निर्देश) किये ही हम हेतु और उदाहरण देकर श्रोता को अपनी बात समझाना चाहें तो वह यह समझ नहीं पायेगा कि मुझे किस विषय के बारे में समझाया जा रहा है अतः सर्वप्रथम जो हमारा साध्य है, जिसके बारे में हम कुछ कहना चाहते हैं। उस विषय का कथन करना आवश्यक है। उसी को प्रतिज्ञा कहते हैं। यथा—**'पर्वतो वह्निमान्'**—पर्वत अग्नि से युक्त है। पंचावयव के इस पहले वाक्य में 'पर्वत पर अग्नि को सिद्ध करना' यह प्रतिज्ञा की गई है।

2. हेतु (Logicial Reason)

हेतु को परिभाषित करते हुए कहा गया—**'साधनवचनं हेतु'**—पर्वत पर अग्नि है इस बात को जानने का साधन क्या है। उस साधन का कथन करना हेतु है, **यथा**—**धूमात्**। धूमात् अर्थात् क्योंकि वहां पर धुंआ है। पर्वत पर अग्नि को सिद्ध करने में धुंआ हेतु बनता है।

3. उदाहरण (Illustration)

उदाहरण को परिभाषित करते हुए कहा गया—**'दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्'**—जिस स्थान पर धूम और अग्नि को एक साथ दिखाया जाता है, वह स्थान दृष्टान्त है और वचनों के द्वारा उसका कथन करना उदाहरण है। जैसे—**'यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः यथा-महानसम्'**—जहां-जहां धुंआ होता है, वहां-वहां अग्नि होती है, जैसे—रसोईघर। रसोईघर में धुंआ और अग्नि एक साथ दिखाई देता है अतः रसोईघर दृष्टान्त है। दृष्टान्त को ही वचनों से कहना उदाहरण है।

4. उपनय (Application)

उपनय को परिभाषित करते हुए कहा गया—**'धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः'**—साधन धर्म (धूम) का साध्यधर्मी (पर्वत) में उपसंहार करना अर्थात् पुनः दोहराना, उपनय है। यथा—**तथाचाऽयं** अर्थात् क्योंकि पर्वत पर धुंआ है।

5. निगमन (Conclusion)

निगमन को परिभाषित करते हुए कहा गया—**'साध्यस्य निगमनम्'**—साध्यधर्म (अग्नि) का धर्मी (पर्वत) में उपसंहार करने का नाम निगमन है। यथा—**'तस्मात् तथा'** अर्थात् इसलिए पर्वत पर अग्नि है।

1. प्रतिज्ञा	—	पर्वतोवह्निमान्	— पर्वत अग्नि से युक्त है।
2. हेतु	—	धूमात्	— क्योंकि वहां पर धुंआ है।
3. उदाहरण	—	यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः, यथा महानसम्	— जहां-जहां धुंआ होता है, वहां-वहां अग्नि होती है, जैसे—रसोईघर।
4. उपनय	—	तथाचाऽयं	— क्योंकि पर्वत पर अग्नि है।
5. निगमन	—	तस्मात्तथा	— इसलिए पर्वत पर धुंआ है।

इस प्रकार परार्थानुमान में इन पांच अवयवों का प्रयोग किया जाता है। सभी दार्शनिक इस बात से सहमत हैं कि परार्थानुमान में वाक्यों का प्रयोग किया जाये पर कितने वाक्यों का प्रयोग किया जाये, इसमें मतैक्य नहीं है। सांख्य के अनुसार निगमन को छोड़कर चार अवयवों का तथा नैयायिक के अनुसार पांचों अवयवों का प्रयोग करना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैन दार्शनिकों ने प्रत्येक विषय पर अनेकान्त दृष्टि से विचार किया है। अवयव-प्रयोग के विषय में भी उनका यही दृष्टिकोण रहा है। उनके अनुसार श्रोता यदि व्युत्पन्न मति (तीव्र बुद्धि) वाला है तो उसके लिए प्रतिज्ञा और हेतु का प्रयोग ही बहुत है और यदि श्रोता मन्दमति वाला है तो उसके लिए पांचों अवयवों का प्रयोग भी किया जा सकता है।

5.4 हेतु (साधन) की परिभाषा (Definition of Reason)

अनुमान वाक्य का मुख्य आधार हेतु होता है क्योंकि हेतु (साधन) को देखकर ही साध्य का ज्ञान किया जाता है। हेतु का स्वरूप कैसा हो? इस विषय में दार्शनिकों में मतभेद पाया जाता है। जैन दर्शन में हेतु को परिभाषित करते हुए कहा गया — **'निश्चितसाध्याविनाभावि साधनम्। साधनवचनं हेतु:'** — जो निश्चित रूप से साध्य का अविनाभावी (साध्य के बिना नहीं होने वाला) होता है, उसे साधन कहते हैं और साधन के कथन का नाम हेतु है। इस प्रकार जैन तार्किकों ने हेतु का एकमात्र लक्षण अविनाभाव माना है।

5.5 हेतु के प्रकार (Types of Reason)

जैनदर्शन के अनुसार हेतु का एकमात्र लक्षण अविनाभाव है। अविनाभाव के दो रूप हैं —

5.5.1 सहभाव अविनाभाव (Universal Concomitance of Simultaneous Events)

सहभाव अर्थात् साथ में होना। यह सहभाव भी सहचर और व्याप्य-व्यापक के भेद से दो प्रकार का होता है।

1. सहचरों का सहभाव — जैसे फल में रूप और रस सहचारी है। रूप और रस साथ-साथ रहते हैं। जहां रूप होगा वहां रस होगा, जहां रस होगा वहां रूप होगा ही। रस के बिना रूप नहीं हो सकता और रूप के बिना रस नहीं हो सकता। जैसे — आम में रूप भी है और रस भी है। रूप और रस का अविनाभाव है।

2. व्याप्य-व्यापक का सहभाव — जैसे वृक्षत्व व्यापक है और चन्दनत्व व्याप्य है। व्यापक और व्याप्य का सहभाव होता है। वृक्षत्व व्यापक है क्योंकि वृक्षत्व सभी वृक्षों में पाया जाता है तथा चन्दनत्व व्याप्य है क्योंकि वह सभी वृक्षों में नहीं अपितु केवल चंदन के वृक्षों में ही पाया जाता है। जहां-जहां चन्दनत्व होगा, वहां-वहां वृक्षत्व होगा ही, अत: चन्दनत्व और वृक्षत्व में व्याप्य-व्यापक सहभाव है।

5.5.2 क्रमभाव अविनाभाव (Universal Concomitance of Successive Events)

क्रमभाव अर्थात् क्रम से होना। यह भी पूर्वचर और उत्तरचर तथा कारण और कार्य के भेद से दो प्रकार का है —

1. पूर्वचर और उत्तरचर का क्रमभाव — जैसे रविवार के बाद सोमवार आता है। इसमें रविवार और सोमवार में क्रमभाव है। रविवार सोमवार के पूर्व में आता है और सोमवार रविवार के बाद में आता है। सोमवार से पूर्व रविवार आता है यह पूर्वचर क्रमभाव का उदाहरण है तथा सोमवार रविवार के पश्चात् आता है, यह उत्तरचर क्रमभाव का उदाहरण है। रविवार और सोमवार में अविनाभाव है।

2. कारण और कार्य का क्रमभाव — जैसे अग्नि कारण है, धूम उसका कार्य है। यहां कारण और कार्य में क्रमभाव है। कारण हमेशा पहले होता है तथा कार्य हमेशा बाद में। अग्नि कारण है, वह पहले होती है और धुंआ कार्य है जो बाद में होता है। अग्नि और धुएं में क्रमभाव अविनाभाव है।

5.6 हेत्वाभास (Fallaceous Reasoning)

अनुमान की प्रामाणिकता (यथार्थता) के लिए उसमें प्रयुक्त हेतु का निर्दोष होना आवश्यक है। यदि हेतु निर्दोष नहीं होता तो वह हेतु फिर हेतु न रहकर हेत्वाभास बन जाता है।

अत: निर्दोष हेतु को समझने के साथ-साथ हेत्वाभास को भी समझना आवश्यक है। प्राय: हम व्यवहार में सही एवं गलत दोनों प्रकार के हेतुओं का प्रयोग करते हैं। सद्हेतु के प्रयोग से कठिन बात भी सरलता से समझी जा सकती है किंतु असद्हेतु के प्रयोग करने पर सरल बात भी जटिल हो जाती है। उदाहरणत: कोई कहे — विद्या से अज्ञान का नाश होता है। यहां विद्या सद्हेतु है अत: विद्या के द्वारा अज्ञान का नाश होना सरलता से समझा जा सकता है। इसके विपरीत यदि यह कहा जाये कि विद्या से अज्ञान की वृद्धि होती है तो यहां विद्या असत्हेतु होगा क्योंकि विद्या से अज्ञान की वृद्धि नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

होती। इस प्रकार सद्हेतु और असद्हेतु का प्रयोग सृष्टि के अनादिकाल से चला आ रहा है। साधारण व्यक्ति इसके लक्षण आदि से भले ही परिचित न हो, पर व्यवहार में इनका प्रयोग अवश्य करता है। असद्हेतु को ही हेत्वाभास कहते हैं अत: हेतु के साथ-साथ हेत्वाभास का ज्ञान होना भी आवश्यक है।

हेत्वाभास की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है। पहली — **'हेतोराभासा हेत्वाभासा:'** — जहां हेतु वास्तविक नहीं होता किंतु हेतु का आभास मात्र होता है, वह हेत्वाभास है। दूसरी — **'हेतुवद् आभासन्ते इति हेत्वाभासा:'** — जो हेतु की तरह प्रतीत होते हैं किंतु हेतु के वास्तविक लक्षण से शून्य होते हैं, उनको हेत्वाभास कहा जाता है।

5.7 हेत्वाभास के प्रकार (Types of Fallaceous Reasoning)

हेत्वाभास कितने प्रकार का होता है। इस विषय में दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है, पर कम से कम तीन हेत्वाभासों की चर्चा सभी ने की है।

1. असिद्ध हेत्वाभास,
2. विरुद्ध हेत्वाभास,
3. अनैकान्तिक हेत्वाभास।

1. असिद्ध हेत्वाभास (Non-existent Fallacy)

भिक्षु न्याय कर्णिका में असिद्ध हेत्वाभास को परिभाषित करते हुए लिखा गया — **'अप्रतीयमान स्वरूपोऽसिद्ध'** — जिस हेतु का अपने साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित नहीं होता वह हेतु असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जैसे — **'अनित्य शब्द: चाक्षुषत्वात्'** — शब्द अनित्य हैं क्योंकि वह चाक्षुष (आंखों का विषय) है। इस अनुमान में चाक्षुष हेतु असिद्ध है क्योंकि चक्षु का विषय रूप है न कि शब्द। अत: चाक्षुष हेतु का अपने साध्य शब्द के साथ अविनाभाव न होने के कारण चाक्षुषत्व हेतु असिद्ध हेतु है।

2. विरुद्ध हेत्वाभास (Contradictory Fallacy)

विरुद्ध हेत्वाभास को परिभाषित करते हुए लिखा गया — **'साध्यविपरीत व्याप्तो विरुद्ध:'** — जिस हेतु का अविनाभाव साध्य के साथ न होकर साध्य से विपरीत के साथ हो अर्थात् जो साध्य के बिना भी होता हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है, जैसे — **'नित्य: शब्द: कार्यत्वात्'** — शब्द नित्य है क्योंकि वह कार्य है। इस अनुमान में कार्यत्व हेतु विरुद्ध है क्योंकि कार्यत्व हेतु नित्यत्व साध्य से विपरीत अनित्यत्व साध्य के होने पर हो सकता है, जबकि प्रस्तुत अनुमान में साध्य तो शब्द का नित्यत्व सिद्ध करना है और कार्यत्व हेतु अनित्यत्व का अविनाभावी होने के कारण विरुद्ध हेतु है।

3. अनैकान्तिक हेत्वाभास (Inconclusive Fallacy)

अनैकान्तिक हेत्वाभास को परिभाषित करते हुए कहा गया — **'अन्यथाऽप्युपपद्यमानोऽनैकान्तिक:'** — जो हेतु साध्य के अतिरिक्त दूसरे साध्य में भी पाया जाये वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। यथा — **'अनित्य शब्द: प्रमेयत्वात्'** — शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रमेय है। इस अनुमान में प्रयुक्त प्रमेयत्व हेतु का अनित्यत्व साध्य के साथ अविनाभाव सिद्ध नहीं है क्योंकि प्रमेयत्व हेतु नित्यत्व साध्य आकाश, आत्मा आदि में भी होता है अत: प्रमेयत्व हेतु अनैकान्तिक है क्योंकि प्रमेय न केवल अनित्य अपितु नित्य भी होते हैं।

इस प्रकार हेत्वाभास के स्वरूप को समझ लेने पर हेतु के स्वरूप को समझ लेना सुगम हो जाता है। जैन तार्किकों ने हेतु का लक्षण एकमात्र अविनाभाव को माना है। अविनाभाव हेतु के द्वारा ही साध्य का सही अनुमान किया जा सकता है।

5.8 साध्य का स्वरूप (Nature of Probandum)

साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं अत: साधन को समझने के साथ-साथ साध्य को समझना भी आवश्यक है। साध्य को परिभाषित करते हुए भिक्षु न्याय कर्णिका में लिखा — **'सिषाधयिषितं साध्यम्'**। आचार्य हेमचन्द्र ने साध्य को परिभाषित करते हुए लिखा — **'सिषाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्ष:'** — वादी जिसे सिद्ध करना चाहता हो, प्रतिवादी को जो सिद्ध न हो और जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से बाधित न हो वह साध्य कहलाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इस प्रकार साध्य की इस परिभाषा में तीन बातें फलित होती हैं—

1. वादी जिसे सिद्ध करना चाहता है वह साध्य है, जिसे सिद्ध करना नहीं चाहता है, वह साध्य नहीं होता है।

2. साध्य प्रतिवादी को पहले से असिद्ध होना चाहिए अर्थात् जिसमें संशय, विपर्यय आदि हों वही साध्य होता है। यदि प्रतिवादी को वह सिद्ध (मान्य) है तो उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं।

3. साध्य प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से बाधित नहीं होना चाहिए।

जिज्ञासा हो सकती है कि धर्म (अग्नि) को साध्य माना जाता है या धर्म-धर्मी के समुदाय अर्थात् अग्नि धर्म से युक्त पर्वत को साध्य माना जाता है।

इसके समाधान में कहा गया है कि व्याप्तिकाल में धर्म (अग्नि) को साध्य माना जाता है और अनुमान-प्रयोग में धर्म-धर्मी के समुदाय को साध्य माना जाता है।

8.1 दृष्टान्त (Illustration)

अनुमान में साध्य-साधन के अतिरिक्त दृष्टान्त का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोकव्यवहार को जानने वाले तथा शास्त्र में निपुण लोग जिस विषय में एकमत हों, वह दृष्टान्त कहलाता है। जैसाकि न्यायसूत्र में कहा गया है—**'लौकिक परीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः'**। सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार जिसके आधार पर व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान होता है, वह दृष्टान्त है। भिक्षु न्याय कर्णिका में कहा गया— **'व्याप्तिप्रतीतिप्रदेशो दृष्टान्तः'**—जिस स्थान पर साध्य और साधन दोनों एक स्थान पर पाये जाते हैं, वह स्थान दृष्टान्त कहलाता है। दृष्टान्त के दो प्रकार हैं—

1. अन्वय या साधर्म्य दृष्टान्त (Similarity),
2. व्यतिरेकी या वैधर्म्य दृष्टान्त (Dissimilarity)।

1. अन्वयी दृष्टान्त

जहां साधन के सद्भाव से साध्य का सद्भाव दिखाया जाता है वह अन्वयी दृष्टान्त कहलाता है। जैसे—जहां-जहां धूम होता है, वहां-वहां अग्नि होती है, जैसे—रसोईघर। यहां रसोईघर अन्वयी दृष्टान्त है, क्योंकि रसोईघर में साधन धुंए और साध्य अग्नि का एक साथ सद्भाव देखा जाता है।

2. व्यतिरेकी दृष्टान्त

जहां साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाया जाता है, वह व्यतिरेकी दृष्टान्त कहलाता है। जैसे—जहां-जहां अग्नि नहीं होती, वहां-वहां धुंआ भी नहीं होता। जैसे—तालाब। यहां तालाब व्यतिरेकी दृष्टान्त है, क्योंकि तालाब में साध्य अग्नि और साधन धूम दोनों का अभाव पाया जाता है।

8.10 दृष्टान्ताभास (Defects of Illustration)

जिस प्रकार असद्हेतु हेत्वाभास कहलाता है, उसी प्रकार असद् दृष्टान्त दृष्टान्ताभास कहलाता है। अन्वयी और व्यतिरेकी दोनों ही प्रकार के दृष्टान्तों के आठ-आठ दृष्टान्ताभास होते हैं।

अन्वयी दृष्टान्ताभास के प्रकार (Based upon Similarity False Examples)

अन्वयी दृष्टान्ताभास के आठ प्रकार हैं—

1. साध्यविकल,	2. साधनविकल,	3. उभयविकल,
4. संदिग्धसाध्य,	5. संदग्धिसाधन,	6. संदग्धोभय,
7. विपरीतान्वय,	8. अप्रदर्शितान्वय।	

1. साध्यविकल—अनुमान के द्वारा जिस साध्य को सिद्ध किया जा रहा है, यदि वह साध्य दृष्टान्त में उपस्थित नहीं है, तो वह दृष्टान्त साध्यविकल दृष्टान्ताभास कहलाता है। जैसे—**'नित्यः शब्दः अमूर्त्तत्वात् यथा कर्म'**—शब्द नित्य है, क्योंकि अमूर्त्त है, जैसे—कर्म। यहां इस अनुमान में शब्द की नित्यता सिद्धि में कर्म को दृष्टान्त बनाया गया है, किंतु कर्म अनित्य होते हैं अतः उसमें अनित्यता रूप साध्य नहीं होने से कर्म का दृष्टान्त साध्यविकल दृष्टान्ताभास है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. साधनविकल — अनुमान में जिस साधन से साध्य को सिद्ध किया जाता है, यदि वह साधन दृष्टान्त में उपस्थित नहीं है तो वह दृष्टान्त साधनविकल दृष्टान्ताभास कहलाता है। जैसे — **'नित्यः शब्दः अमूर्त्तत्वात् परमाणुवत्'**। यहां इस अनुमान में शब्द की नित्यता की सिद्धि में अमूर्त्त हेतु (साधन) दिया गया है और दृष्टान्त परमाणु का दिया है। परमाणु नित्य तो होते हैं पर वे अमूर्त्त नहीं होते, मूर्त्त होते हैं अतः परमाणु में अमूर्त्तता रूप साधन का अभाव होने से परमाणु का दृष्टान्त साधन विकल दृष्टान्ताभास है।

3. साध्य-साधन उभयविकल — अनुमान में जिस साधन से जिस साध्य को सिद्ध किया जाता है। यदि वह साधन और साध्य दोनों ही दृष्टान्त में न पाये जायें तो वह दृष्टान्त उभय विकल दृष्टान्ताभास कहलाता है। जैसे — **'नित्यः शब्दः अमूर्त्तत्वात् घटवत्'**। इस अनुमान में शब्द की नित्यता की सिद्धि में अमूर्त्त हेतु और घट का दृष्टान्त दिया गया है। यहां घट दृष्टान्त उभयविकल दृष्टान्ताभास है क्योंकि घट न तो नित्य होता है और न अमूर्त्त होता है।

4. संदिग्धसाध्य — अनुमान के द्वारा जिस साध्य को सिद्ध किया जा रहा है यदि वह साध्य दृष्टान्त में संदिग्ध हो तो संदिग्धसाध्य दृष्टान्ताभास कहलाता है। जैसे — विवक्षित पुरुष रागी है, क्योंकि वह बोलता है, जैसे — रथ्यापुरुष (सामान्य पुरुष)। यहां साध्य धर्म 'राग' है और वह रथ्यापुरुष में संदिग्ध है इसलिए यह संदिग्धसाध्य दृष्टान्त है।

5. संदिग्धसाधन — अनुमान में जिस साधन से साध्य को सिद्ध किया जा रहा है यदि वह साधन दृष्टान्त में संदिग्ध हो तो संदिग्धसाधन दृष्टान्ताभास कहलाता है, जैसे — विवक्षित पुरुष मरणधर्मा है, क्योंकि वह रागी है, जैसे — रथ्यापुरुष। यहां साधन धर्म 'राग' है और वह रथ्यापुरुष में संदिग्ध है अतः संदिग्धसाधन दृष्टान्ताभास है।

6. संदिग्धोभय — अनुमान में जिस साधन से जिस साध्य को सिद्ध किया जाता है। यदि वह साधन और साध्य दोनों ही दृष्टान्त में संदिग्ध हो तो संदिग्धोभय दृष्टान्ताभास होता है। जैसे — विवक्षित पुरुष अल्पज्ञ है क्योंकि वह रागी है, जैसे — रथ्यापुरुष। यहां रथ्यापुरुष में अल्पज्ञता और राग दोनों ही संदिग्ध है, अतः संदिग्धोभय दृष्टान्ताभास है।

7. विपरीतान्वय — जहां अन्वय विपरीत किया जाता है वहां विपरीतान्वय दृष्टान्ताभास होता है, जैसे — जो-जो कृतक होता है, वह-वह अनित्य होता है — जैसे घड़ा। यह ठीक अन्वय है। यदि इसके विपरीत अन्वय ऐसे कर दिया जाये कि जो-जो अनित्य होता है, वह-वह कृतक होता है तो यह विपरीतान्वय दृष्टान्ताभास है, क्योंकि जो-जो अनित्य है, वह-वह कृतक हो यह आवश्यक नहीं। इन्द्रधनुष, बादल आदि अनित्य हैं, पर कृतक नहीं।

8. अप्रदर्शितान्वय — जहां अन्वय को प्रदर्शित नहीं किया जाता, वह अप्रदर्शितान्वय दृष्टान्ताभास है, जैसे — **'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्'** — इस अनुमान में जो-जो कृतक होता है, वह-वह अनित्य होता है, यह अन्वय प्रदर्शित नहीं किया गया अतः यह अप्रदर्शितान्वय दृष्टान्ताभास है।

व्यतिरेकी दृष्टान्ताभास (Based upon Dissimilarity)

व्यतिरेकी दृष्टान्ताभास के आठ प्रकार हैं —

1. असिद्धसाध्य,	2. असिद्धसाधन,	3. असिद्धोभय,
4. संदिग्धसाध्य,	5. संदिग्धसाधन,	6. संदिग्धउभय,
7. विपरीतव्यतिरेक,	8. अप्रदर्शितव्यतिरेक।	

1. असिद्धसाध्य — अनुमान के द्वारा जिस साध्य को सिद्ध किया जा रहा है, यदि वह साध्य दृष्टान्त में असिद्ध है तो वह दृष्टान्त असिद्धसाध्य दृष्टान्ताभास कहलाता है, जैसे — शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि वह अमूर्त्त है। जो अपौरुषेय नहीं होता वह अमूर्त्त भी नहीं होता, जैसे — परमाणु। यहां परमाणु दृष्टान्त अपौरुषेय होने पर भी मूर्त्त होता है, अमूर्त्त नहीं। अतः यह असिद्धसाध्य व्यतिरेकी दृष्टान्ताभास है।

2. असिद्धसाधन — जहां दृष्टान्त में साधन असिद्ध हो वह असिद्धसाधन दृष्टान्ताभास है। जैसे — जो पौरुषेय नहीं होता वह अमूर्त्त भी नहीं होता, जैसे — दुःख। दुःख पौरुषेय होने पर भी अमूर्त्त होता है इसलिए यह असिद्धसाधन व्यतिरेकी दृष्टान्ताभास है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. असिद्धोभय — जब साध्य और साधन दोनों ही दृष्टान्त में असिद्ध हों तो असिद्धोभय दृष्टान्ताभास होता है, जैसे — जो अपौरुषेय नहीं होता वह अमूर्त्त भी नहीं होता, जैसे — आकाश। यहां दृष्टान्त आकाश अपौरुषेय भी है और अमूर्त्त भी है, इसलिए यह असिद्धोभय व्यतिरेकी दृष्टान्ताभास है।

4. संदिग्धसाध्य — जब दृष्टान्त में साध्य संदिग्ध होता है तो वह संदिग्धसाध्य दृष्टान्ताभास कहलाता है। जैसे — जो रागी नहीं होता वह वक्ता भी नहीं होता, जैसे — रथ्यापुरुष। यहां दृष्टान्त रथ्यापुरुष में राग संदिग्ध है।

5. संदिग्धसाधन — जहां दृष्टान्त में साधन संदिग्ध होता है, वहां संदिग्धसाधन दृष्टान्ताभास होता है। जैसे — जो मरणधर्मा नहीं होता वह रागी भी नहीं होता, जैसे — रथ्यापुरुष। यहां दृष्टान्त रथ्यापुरुष में साधन 'राग' संदिग्ध है।

6. संदिग्धोभय — जहां दृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों संदिग्ध होते हैं वह संदिग्धोभय दृष्टान्ताभास है, जैसे — जो अल्पज्ञ नहीं होता वह रागी भी नहीं होता, जैसे — रथ्यापुरुष। यहां दृष्टान्त रथ्यापुरुष में अल्पज्ञता और राग दोनों संदिग्ध हैं।

7. विपरीत व्यतिरेक — शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक है। जो अकृतक होता है वह नित्य होता है, जैसे — आकाश। यह विपरीत व्यतिरेकी दृष्टान्ताभास है। व्यतिरेक में साध्याभाव का साधनाभाव से व्याप्त निर्देश होना चाहिए। यहां वैसा नहीं है इसलिए यहां विपरीत व्यतिरेक है।

8. अप्रदर्शित व्यतिरेक — शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक है, जैसे — आकाश। यह अप्रदर्शित व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है। क्योंकि जो अनित्य नहीं होता वह कृतक भी नहीं होता। इस प्रकार का व्यतिरेक होने पर भी वह यहां प्रदर्शित नहीं किया गया है।

5.11 अनुमान का आधार-व्याप्ति (Necessary Concomitance is the base of inference)

अनुमान का मूल आधार व्याप्ति है। व्याप्ति ज्ञान के बिना अनुमान का उत्थान नहीं हो सकता। व्याप्ति शब्द 'वि' और 'आप्ति' के योग से बना है। व्याप्ति शब्द का सामान्य अर्थ है — 'विशेष सम्बन्ध'। विशेष का अर्थ है नियत या निश्चित संबंध। साधन और साध्य के बीच नियत या अनिवार्य संबंध को व्याप्ति कहते हैं। जैसे धूम और अग्नि में अनिवार्य संबंध है अत: जहां-जहां धूम है, वहां-वहां अग्नि है, यह व्याप्ति है। व्याप्ति त्रैकालिक होती है। संबंध सदैव दो वस्तुओं में होता है। व्याप्ति भी एक संबंध है अत: जिन दो वस्तुओं में व्याप्ति होती है, उनमें से एक व्यापक तथा दूसरा व्याप्य होता है। जिसकी व्याप्ति होती है वह व्यापक और जिसमें व्याप्ति रहती है वह व्याप्य कहलाता है। व्यापक का क्षेत्र बड़ा और व्याप्य का क्षेत्र छोटा होता है। जैसे आग और धूम में आग व्यापक और धूम व्याप्य है। व्याप्य कभी भी व्यापक के बिना नहीं रह सकता जबकि व्यापक के लिए ऐसा प्रतिबंध नहीं है, वह व्याप्य के बिना भी रह सकता है। उदाहरण के लिए धूम (व्याप्य) अग्नि (व्यापक) के बिना नहीं रह सकता जबकि अग्नि धूम के बिना रह सकती है। 'अत: जहां-जहां धूम है, वहां-वहां अग्नि है, यह व्याप्ति तो बनाई जा सकती है पर जहां-जहां अग्नि है, वहां-वहां धूम है, यह व्याप्ति नहीं बनाई जा सकती क्योंकि अयोगोलक (जलते हुए आग के गोले) में अग्नि तो है पर धूम नहीं है।

व्याप्ति के अनेक प्रकार उपलब्ध होते हैं पर मुख्य रूप से व्याप्ति के दो प्रकार हैं —

1. सम व्याप्ति। 2. विषम व्याप्ति।

1. सम व्याप्ति — जहां व्याप्य और व्यापक का क्षेत्र बराबर होता है वहां सम व्याप्ति होती है, जैसे — जो प्रमेय (वस्तु) है वह अभिधेय (नामयुक्त) है। यहां दोनों का क्षेत्र बराबर है। अत: दोनों में से किसी को भी व्याप्य या व्यापक माना जा सकता है। समव्याप्ति के उदाहरण कम प्राप्त होते हैं।

2. विषमव्याप्ति — जहां व्याप्य और व्यापक का क्षेत्र बराबर नहीं होता। व्याप्य का क्षेत्र व्यापक से कम होता है वहां विषम व्याप्ति होती है। जैसे — जहां-जहां धूम है, वहां-वहां अग्नि है। इस व्याप्ति में अग्नि का क्षेत्र धूम की अपेक्षा अधिक है अत: यह विषम व्याप्ति है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जिन वस्तुओं में अविनाभाव संबंध नियत नहीं होता, उनमें व्याप्ति नहीं हो सकती। जैसे मेघ और वर्षा कभी साथ-साथ भी दिखाई देते हैं और कभी अलग भी। जहां तक वर्षा का सवाल है वह तो मेघ से नियत है किंतु बादल हमेशा ही वर्षा नहीं करता अत: उसका संबंध वर्षा से अनियत है।

इस प्रकार अनुमान का मूल आधार व्याप्ति है। हम पहले साधन (धूम) को प्रत्यक्ष देखते हैं फिर जहां-जहां धूम है, वहां-वहां अग्नि है, इस व्याप्ति का स्मरण करते हैं और स्मरण के बाद वहां अग्नि होने का अनुमान करते हैं। यदि व्याप्ति की स्मृति न हो या उसका ज्ञान न हो तो अनुमान का उत्थान हो ही नहीं सकता। अत: अनुमान भी परोक्ष प्रमाण का ही एक भेद है।

आगम (Verbal Testimony)

आगम (Verbal Testimoney)

परोक्ष प्रमाण का अंतिम भेद आगम है। जैनदृष्टि के अनुसार आगम वह ज्ञान है जो श्रोता या पाठक को आप्त (वीतराग) की मौखिक या लिखित वाणी से होता है। भिक्षु न्याय कर्णिका में आप्त को परिभाषित करते हुए कहा गया — **'यथार्थविद् यथार्थवादी चाप्त:'** — वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला और ज्ञान के अनुरूप ही उसका प्रतिपादन करने वाला आप्त कहलाता है। आप्त दो प्रकार के होते हैं —

1. लौकिक आप्त,
2. लोकोत्तर आप्त।

लौकिक दृष्टि से जो जिस समय जिस विषय का यथार्थ ज्ञान रखते हैं तथा यथार्थ वक्ता होते हैं, वे लौकिक आप्त होते हैं और उनके वचन लौकिक आगम है।

लोकोत्तर विषयों — आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म आदि का यथार्थ ज्ञान रखने वाले तथा यथार्थ का प्रतिपादन करने वाले वीतराग पुरुष लोकोत्तर आप्त होते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित सत्य लोकोत्तर आगम के विषय हैं। वस्तुत: जैनदृष्टि से पुस्तक, ग्रंथ आदि ज्ञान के साधन होने से उपचार से आगम है, मुख्य आगम तो आप्त पुरुष स्वयं हैं अत: आगम पुरुष है, ग्रंथ नहीं। जो बात प्रत्यक्ष, हेतु या युक्ति से समझ में नहीं आती उन अहेतुगम्य विषयों में आगम ही एकमात्र ज्ञान का साधन है अत: हमें आगम का भी स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार करना चाहिए।

6.2 आगम के प्रकार (Types of Testimony)

सूत्र आदि के भेद से आगम तीन प्रकार के हैं — सूत्रागम, अर्थागम, तदुभयागम।

सूत्रागम — तीर्थंकरों की वाणी को जो गणधरादि सूत्र रूप में गूंथते हैं उसे सूत्रागम कहते हैं। आचारांगादि सूत्रों के जो मूलपाठ हैं, वे सूत्र सूत्रागम हैं।

अर्थागम — सर्वज्ञ भगवान् का जो अर्थरूप उपदेश होता है वह अर्थागम है। तीर्थंकरदेव अर्थरूप ही ज्ञान दिया करते हैं।

तदुभयागम — सूत्र और अर्थ दोनों रूपों में जो ज्ञान होता है वह तदुभयागम है।

इन तीनों प्रकार के आगमों के रहस्य को जानने वाले और दूसरों को पढ़ाने वाले ज्ञानी पुरुष क्रमश: सूत्रधर, अर्थधर एवं तदुभयधर कहे जाते हैं। व्यक्ति की अपेक्षा से आगम पुन: तीन प्रकार के हैं — 1. आत्मागम, 2. अनन्तरागम, 3. परम्परागम।

1. आत्मागम — गुरु के उपदेश बिना जो आगमज्ञान स्वयं उत्पन्न होता है, वह अपने स्वामी के लिए आत्मागम कहलाता है। जैसे तीर्थंकरों के लिए अर्थागम आत्मागम रूप है और गणधरों के लिए सूत्रागम आत्मागम रूप है क्योंकि वे दोनों क्रमश: उन दोनों से स्वयं उत्पन्न होते हैं।

2. अनन्तरागम — आत्मागमधारी पुरुष से आगमज्ञान जिसे प्राप्त होता है उसके लिए वह ज्ञान अनन्तरागम कहा जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

गौतमादि गणधरों के लिए भगवान् महावीर से प्राप्त अर्थागम अनन्तरागमरूप है तथा जम्बूस्वामी आदि गणधर शिष्यों के लिए गौतमादि गणधरों से मिला हुआ सूत्रागम अनन्तरागमरूप है।

3. परम्परागम — साक्षात् आत्मागमधारी पुरुष से प्राप्त न होकर जो आगमज्ञान उनके शिष्यों-प्रशिष्यों से आता है, उसे परम्परागम कहते हैं। जैसे जम्बूस्वामी आदि गणधर शिष्यों के लिए अर्थागम परम्परागमरूप है और प्रभवस्वामी आदि पश्चाद्वर्ती सभी साधुओं के लिए अर्थागम और सूत्रागम दोनों ही परम्परागमरूप हैं। उपयुक्त विवेचन का सार यह है कि आत्मा से उत्पन्न आगमज्ञान आत्मागम है, आत्मागमधारी गुरु से प्राप्त आगमज्ञान अनन्तरागम है और आगे वाली पीढ़ी के लिए वही परम्परागम है।

इस प्रकार परोक्षप्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम ये पांच भेद होते हैं। इन सबमें परोक्ष का सामान्य लक्षण 'अविशदत्व' समान रूप से पाया जाता है अत: अवान्तर सामग्री भिन्न-भिन्न होते हुए भी ये सब परोक्ष प्रमाण के अंतर्गत आते हैं।

बोध प्रश्न

प्रश्न-1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. परोक्ष प्रमाण किसे कहते हैं? उसके प्रकारों का विवेचन करें?
2. अनुमान प्रमाण पर एक निबन्ध लिखें?
3. हेतु और हेत्वाभास पर प्रकाश डालें?

प्रश्न-2. लघूत्तरात्मक प्रश्न (टिप्पणी)

1. स्मृति
2. प्रत्यभिज्ञा
3. दृष्टान्ताभास
4. पांच अवयव

प्रश्न-3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. परोक्ष प्रमाण के कितने भेद हैं?
2. अनुमान किसे कहते हैं?
3. स्मृति का हेतु क्या है?
4. हेतु का लक्षण क्या है?
5. दृष्टान्ताभास किसे कहते हैं?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1. स्मरणीय बिन्दु

प्रिय विद्यार्थियों!

इस परिशिष्ट में आपके पाठ्यक्रम में जिन विषयों की चर्चा की गई है, उन विषयों के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को एक साथ प्रस्तुत किया गया है। इन बिन्दुओं को याद किए बिना इन विषयों का उत्तर लिख पाना कठिन होगा। अत: आपको यह सुझाव दिया जाता है कि इन बिन्दुओं को आप कंठस्थ कर लें। पांचों इकाइयों में इन बिन्दुओं का विस्तृत विवेचन दिया गया है, उसका एकाग्रता से दो-तीन बार पारायण करें। विश्वास है कि ऐसा करने से आप 'जैन ज्ञान मीमांसा और प्रमाण मीमांसा' की गहराई तक पहुंच सकेंगे।

इकाई-1 ज्ञान का स्वरूप एवं भेद, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान

1. ज्ञान के पांच प्रकार हैं—
   (1) मतिज्ञान (2) श्रुतज्ञान
   (3) अवधिज्ञान (4) मन:पर्यवज्ञान
   (5) केवलज्ञान
2. मतिज्ञान के दो प्रकार हैं—
   (1) श्रुतनिश्रित मतिज्ञान
   (2) अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान
3. श्रुतिनिश्रित मतिज्ञान के चार प्रकार हैं—
   (1) अवग्रह (2) ईहा
   (3) अवाय (3) धारणा
4. अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के चार प्रकार हैं—
   (1) औत्पत्तिकी बुद्धि (2) वैनयिकी बुद्धि
   (3) कार्मिकी बुद्धि (4) पारिणामिकी बुद्धि
5. श्रुतज्ञान के चौदह प्रकार हैं—
   (1) अक्षर श्रुत (2) अनक्षर श्रुत
   (3) संज्ञी श्रुत (4) असंज्ञी श्रुत
   (5) सम्यक् श्रुत (6) मिथ्या श्रुत
   (7) सादि श्रुत (8) अनादि श्रुत
   (9) सपर्यवसित श्रुत (10) अपर्यवसित श्रुत
   (11) गमिक श्रुत (12) अगमिक श्रुत
   (13) अंगप्रविष्ट श्रुत (14) अनंग प्रविष्ट श्रुत

इकाई-2 अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान, केवलज्ञान

1. अवधिज्ञान के दो प्रकार हैं—
   (1) भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान
   (2) क्षायोपशमिक अवधिज्ञान
2. अवधिज्ञान के छ: प्रकार हैं—
   (1) अनुगामी अवधिज्ञान (2) अननुगामी अवधिज्ञान
   (3) वर्धमान अवधिज्ञान (4) हीयमान अवधिज्ञान
   (5) प्रतिपाति अवधिज्ञान (6) अप्रतिपाति अवधिज्ञान
3. अवधिज्ञान के दो प्रकार हैं—
   (1) अन्तगत अवधिज्ञान
   (2) मध्यगत अवधिज्ञान
4. अन्तगत अवधिज्ञान के तीन प्रकार हैं—
   (1) पुरत: अन्तगत (2) मार्गत: अन्तगत
   (3) पार्श्वत: अन्तगत
5. मन:पर्यवज्ञान के दो प्रकार हैं—
   (1) ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान
   (2) विपुलमति मन:पर्यवज्ञान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

6. अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान में चार भेद हैं—
   (1) विशुद्धिकृत भेद (2) क्षेत्रकृत भेद
   (3) स्वामिकृत भेद (4) विषयकृत भेद

7. केवलज्ञान के दो भेद हैं—
   (1) भवस्थ केवलज्ञान
   (2) सिद्ध केवलज्ञान

8. भवस्थ केवलज्ञान के दो प्रकार हैं—
   (1) सयोगी भवस्थ केवलज्ञान
   (2) अयोगी भवस्थ केवलज्ञान

9. सिद्ध केवलज्ञान के दो प्रकार हैं—
   (1) अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान
   (2) परम्परसिद्ध केवलज्ञान

10. अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान के पन्द्रह प्रकार हैं—
   (1) तीर्थ सिद्ध (9) पुरुषसिंह सिद्ध
   (2) अतीर्थ सिद्ध (10) नपुंसकलिंग सिद्ध
   (3) तीर्थंकर सिद्ध (11) स्वलिंग सिद्ध
   (4) अतीर्थंकर सिद्ध (12) अन्यलिंग सिद्ध
   (5) स्वयंबुद्ध सिद्ध (13) गृहलिंग सिद्ध
   (6) प्रत्येकबुद्ध सिद्ध (14) एक सिद्ध
   (7) बुद्धबोधित सिद्ध (15) अनेक सिद्ध
   (8) स्त्रीलिंग सिद्ध

11. अज्ञान के तीन प्रकार हैं—
   (1) मति अज्ञान (2) श्रुत अज्ञान
   (3) विभंग अज्ञान

12. दर्शन के चार प्रकार हैं—
   (1) चक्षु दर्शन (2) अचक्षु दर्शन
   (3) अवधि दर्शन (4) केवल दर्शन

इकाई-3 न्याय, न्याय के अंग (प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति, प्रमाता) अभाव

1. लक्षण के तीन प्रकार हैं—
   (1) स्वभाव लक्षण (2) अवयव लक्षण
   (3) अवस्था लक्षण

2. लक्षणाभास के तीन प्रकार हैं—
   (1) अव्याप्त लक्षणाभास
   (2) अतिव्याप्त लक्षणाभास
   (3) असंभवी लक्षणाभास

3. न्याय के चार अंग हैं—
   (1) प्रमाण (2) प्रमेय
   (3) प्रमिति (4) प्रमाता

4. प्रमेय का स्वरूप है—
   (1) सत्-असत् (2) नित्य-अनित्य
   (3) सामान्य-विशेष (4) वाच्य-अवाच्य

5. प्रमाण के दो फल हैं—
   (1) अनन्तर (मुख्य फल)
   (2) परम्पर (गौण फल)
   अनन्तर फल है—अज्ञान का दूर होना।

इकाई-4 प्रमाण, प्रामाण्य का निश्चय, प्रत्यक्ष प्रमाण, इन्द्रिय-मन

1. अयथार्थ ज्ञान के तीन प्रकार हैं—
   (1) संशय (2) विपर्यय
   (3) अनध्यवसाय

2. प्रामाण्य का निश्चय दो प्रकार से होता है—
   (1) स्वत: प्रामाण्य निश्चय
   (2) परत: प्रामाण्य निश्चय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3. प्रमाण के दो भेद हैं—
   (1) प्रत्यक्ष
   (2) परोक्ष

4. प्रत्यक्ष प्रमाण के दो प्रकार हैं—
   (1) पारमार्थिक प्रत्यक्ष
   (3) सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष

5. पारमार्थिक प्रत्यक्ष के तीन प्रकार हैं—
   (1) अवधिज्ञान (2) मन:पर्यवज्ञान
   (3) केवलज्ञान

6. सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के चार प्रकार हैं—
   (1) अवग्रह (2) ईहा
   (3) अवाय (4) धारणा

7. इन्द्रिय के पांच प्रकार हैं—
   (1) स्पर्शनेन्द्रिय (2) रसनेन्द्रिय
   (3) घ्राणेन्द्रिय (4) चक्षुरिन्द्रिय
   (5) श्रोत्रेन्द्रिय

8. इन्द्रिय के दो प्रकार हैं—
   (1) द्रव्येन्द्रिय
   (2) भावेन्द्रिय

9. द्रव्येन्द्रिय के दो प्रकार हैं—
   (1) निवृत्ति द्रव्येन्द्रिय
   (2) उपकरण द्रव्येन्द्रिय

10. भावेन्द्रिय के दो प्रकार हैं—
   (1) लब्धि भावेन्द्रिय
   (2) उपयोग भावेन्द्रिय

11. मन के दो प्रकार हैं—
   (1) द्रव्यमन
   (2) भावमन

12. मन के तीन कार्य हैं—
   (1) स्मृति (2) कल्पना
   (3) चिन्तन

इकाई–5 परोक्ष प्रमाण—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम

1. परोक्ष प्रमाण के पांच प्रकार हैं—
   (1) स्मृति (2) प्रत्यभिज्ञा
   (3) तर्क (4) अनुमान
   (5) आगम

2. प्रत्यभिज्ञा के चार प्रकार हैं—
   (1) एकत्व प्रत्यभिज्ञा (2) सादृश्य प्रत्यभिज्ञा
   (3) वैसदृश्य प्रत्यभिज्ञा (4) प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञा

3. अनुमान के दो प्रकार हैं—
   (1) स्वार्थानुमान
   (2) परमार्थानुमान

4. अनुमान के पांच अवयव हैं—
   (1) प्रतिज्ञा (2) हेतु
   (3) उदाहरण (4) उपनय
   (5) निगमन

5. हेतु के दो प्रकार हैं—
   (1) सहभाव अविनाभाव
   (2) क्रमभाव अविनाभाव

6. हेत्वाभास के तीन प्रकार हैं—
   (1) असिद्ध हेत्वाभास (2) विरुद्ध हेत्वाभास
   (3) अनैकान्तिक हेत्वाभास

7. दृष्टान्त के दो प्रकार हैं—
   (1) अन्वयी दृष्टानत
   (2) व्यतिरेकी दृष्टानत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

8. दृष्टान्ताभास के दो प्रकार हैं—
   (1) अन्वयी दृष्टान्ताभास
   (2) व्यतिरेकी दृष्टान्ताभास

9. अन्वयी दृष्टान्ताभास के आठ प्रकार हैं—
   (1) साध्यविकल (2) साधनविकल
   (3) उभयविकल (4) संदिग्धसाध्य
   (5) संदिग्धसाधन (6) संदिग्धउभय
   (7) विपरीतान्वय (8) अप्रदर्शितान्वय

10. व्यतिरेकी दृष्टान्ताभास के आठ प्रकार हैं—
   (1) असिद्ध साध्य (2) असिद्ध साधन
   (3) असिद्ध उभय (4) संदिग्ध साध्य
   (5) संदिग्ध साधन (6) संदिग्ध उभय
   (7) विपरीत व्यतिरेक (8) अप्रदर्शित व्यतिरेक

11. आगम के तीन प्रकार हैं—
   (1) सूत्रागम (2) अर्थागम
   (3) तदुभयागम

2. भिक्षु न्याय कर्णिका

लेखक—— आचार्यश्री तुलसी
सूत्र हिन्दी अनुवाद सहित

बी.ए. द्वितीय वर्ष जैन विद्या विषय का द्वितीय पत्र 'ज्ञान मीमांसा एवं प्रमाण मीमांसा' के पाठों का लेखन भिक्षु न्याय कर्णिका ग्रन्थ के आधार पर किया गया है। बी.ए. द्वितीय वर्ष जैन दर्शन और जैनेतर दर्शन विषय के द्वितीय पत्र में भिक्षु न्याय कर्णिका मूल पुस्तक पाठ्यक्रम में निर्धारित की गई है, चूंकि ग्रन्थ संस्कृत भाषा में है अत: संस्कृत भाषा से अपरिचित तथा पत्राचार के माध्यम से अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के लिए स्वत: उस ग्रन्थ को पढ़कर समझ पाना कठिन है अत: उनकी सुविधा के लिए उन्हें भी यह पत्राचार भेजा जा रहा है। भिक्षु न्याय कर्णिका ग्रन्थ के सूत्र तथा उनका हिन्दी अनुवाद यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रथम भाग

1. **युक्त्यार्थ–परीक्षणं न्यायः।** युक्ति के द्वारा तत्त्वों का परीक्षण करना न्याय है।
2. **प्रमाणं प्रमेयं प्रमितिःप्रमाता चेति चतुरंगः।** प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता—— न्याय के ये चार अंग हैं।
3. **अर्थसिद्धयै तत्प्रवृत्तिः।** न्याय की प्रवृत्ति अर्थसिद्धि के लिए होती है।
4. **सा च लक्षणप्रमाणाभ्याम्।** अर्थसिद्धि लक्षण और प्रमाण से होती है।
5. **व्यवच्छेदकधर्मो लक्षणम्।** एक वस्तु को दूसरी वस्तुओं से पृथक् करने वाला धर्म लक्षण है।
6. **अव्याप्त–अतिव्याप्त–असंभविनस्तदाभासाः।** अव्याप्त, अतिव्याप्त और असंभवी—— ये तीन लक्षणाभास हैं।
7. **लक्ष्यैकदेशवृत्तिरव्याप्तः।** जो लक्षण लक्ष्य के एक देश में मिलता है वह अव्याप्त लक्षणाभास है।
8. **लक्ष्यालक्ष्यवृत्तिरतिव्याप्तः।** जो लक्षण लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में मिलता है वह अतिव्याप्त लक्षणाभास है।
9. **लक्ष्यमात्रावृत्तिरसंभवी।** जो लक्षण अपने लक्ष्य में अंशत: भी नहीं मिलता वह असंभवी लक्षणाभास है।
10. **यथार्थज्ञानं प्रमाणम्।** यथार्थ ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है।
11. **अयथार्थञ्च विपर्ययसंशयाऽनध्यवसायाः।** अयथार्थ ज्ञान के तीन भेद हैं—— विपर्यय, संशय और अनध्यवसाय।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

12. **अतत्त्वे तत्ताध्यवसायो विपर्ययः।** अतत् में तत् का अध्यवसाय करना विपर्यय है।
13. **अनिर्णायी विकल्पः संशयः।** निर्णयशून्य विकल्प का नाम संशय है।
14. **आभासमात्रमनध्यवसायः।** वस्तु का आभास मात्र होना अनध्यवसाय है।
15. **प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा।** प्रामाण्य (प्रमाण की यथार्थता) का निश्चय स्वतः और परत, दोनों प्रकार से होता है।

द्वितीय भाग

1. **तत् प्रत्यक्षं परोक्षञ्च।** प्रमाण के दो प्रकार हैं—— प्रत्यक्ष और परोक्ष।
2. **साहाय्यनिरपेक्षं प्रत्यक्षम्।** सहायता–निरपेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है।
3. **तच्च चेतनस्य निरावरणस्वरूपं केवलम्।** वह प्रत्यक्ष आत्मा का निरावरणस्वरूप केवलज्ञान है।
4. **अपूर्णमवधिमनःपर्यायौ।** अवधिज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान अपूर्ण प्रत्यक्ष हैं।
5. **रूपि–द्रव्यसाक्षात्करणमवधिः।** रूपी द्रव्य का साक्षात् करने वाला अवधिज्ञान है।
6. **मनोद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिः मनःपर्यायः।** मनोद्रव्य के पर्यायों का साक्षात् करने वाला ज्ञान मनःपर्याय ज्ञान है।
7. **अवग्रहेहावायधारणात्मकं सांव्यवहारिकम्।** अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है।
8. **इन्द्रियार्थयोगे दर्शनानन्तरं सामान्यग्रहणमवग्रहः।** इन्द्रिय और अर्थ का योग होने पर दर्शन के पश्चात् जो सामान्य का ग्रहण होता है, उसे अवग्रह कहते हैं।
9. **व्यंजनार्थयोः।** अवग्रह के दो भेद हैं—— व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह।
10. **न नयनमनसोर्व्यंजनम्।** चक्षु और मन के व्यंजनावग्रह नहीं होता।
11. **अमुकेन भाव्यमिति प्रत्यय ईहा।** 'अमुक होना चाहिए' इस प्रकार के प्रत्यय को ईहा कहते हैं।
12. **अमुक एवेत्यवायः।** 'अमुक ही है' ऐसे निर्णयात्मक ज्ञान को अवाय कहते हैं।
13. **तस्यावस्थितिर्धारणा।** निर्णयात्मक ज्ञान की अवस्थिति का नाम धारणा है।
14. **असामस्त्येनापि उत्पद्यमानत्वात्, अपूर्वापूर्ववस्तुपर्यायप्रकाशकत्वात् क्रमभावित्वाच्च एते व्यतिरिच्यन्ते।** अवग्रह आदि चारों असमयरूप से भी उत्पन्न होते हैं, वे नए–नए पर्यायों का बोध कराते हैं और वे क्रम से उत्पन्न होते हैं इन तीन कारणों से उनमें परस्पर भिन्नता है।
15. **आशूत्पादात् क्वचित् क्रमानुपलक्षणमेषाम्।** अवग्रह आदि परिचित अवस्था में इतने शीघ्र हो जाते हैं कि उनका क्रम जाना ही नहीं जाता।
16. **प्रतिनियतार्थग्रहणमिन्द्रियम्।** जिसके द्वारा प्रतिनियत—— अपने–अपने निश्चित विषय का ज्ञान होता है, उसे इन्द्रिय कहते हैं।
17. **स्पर्शरसगंधरूपशब्दग्रहणलक्षणानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि।** क्रमशः स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द को ग्रहण करने वाली इन्द्रियां पांच हैं—— स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।
18. **प्रत्येकं चतुर्धा।** प्रत्येक इन्द्रिय के चार–चार भेद हैं—— निर्वृत्ति, उपकरण, लब्धि और उपयोग।
19. **निर्वृत्त्युपकरणे पौद्गलिके।** निर्वृत्ति और उपकरण ये दो इन्द्रियां पौद्गलिक (द्रव्येन्द्रिय) हैं।
20. **आत्मिके लब्ध्युपयोगौ।** लब्धि और उपयोग ये दो आत्मिक इन्द्रियां (भावेन्द्रिय) हैं।
21. **सर्वार्थग्राहि त्रैकालिकं मनः।** जिसके द्वारा सब विषयों का ग्रहण किया जाता है और जो त्रैकालिक संज्ञान है, उसे मन कहा जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तृतीय भाग

1. **साहाय्यापेक्षं परोक्षम्।** जिसमें दूसरे हेतुओं की सहायता अपेक्षित हो उसे परोक्षप्रमाण कहा जाता है।
2. **मतिश्रुते।** परोक्ष प्रमाण के दो प्रकार हैं—1. मति और 2. श्रुत।
3. **इन्द्रियमनोनिबन्धनं मतिः।** इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो ज्ञान होता है वह मति है।
4. **स्मृति–प्रत्यभिज्ञा–तर्क–अनुमानानि तत्प्रकाराः।** स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क और अनुमान—ये मति के प्रकार हैं।
5. **संस्कारोद्बोधसंभवा तदित्याकारा स्मृतिः।** संस्कारों के उद्बुद्ध होने पर जो 'तत्' ऐसे आकार वाला (तत् शब्दावाच्य) ज्ञान उत्पन्न होता है वह स्मृति है।
6. **अनुभवस्मृतिसंभवं तदेवेदं तत्सदृशंतद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादिसंकलनं प्रत्यभिज्ञा।** अनुभव और स्मृति के योग से उत्पन्न, यह वही है, यह उसके समान है, यह उससे विलक्षण है, यह उसका प्रतियोगी है, ऐसे संकलनात्मक ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है।
7. **अन्वयव्यतिरेकनिर्णयस्तर्कः।** अन्वय और व्यतिरेक के निर्णय को तर्क कहा जाता है।
8. **साधनात् साध्यज्ञानमनुमानम्।** साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान करने को अनुमान कहते हैं।
9. **सिसाधयिषितं साध्यम्।** जिसे सिद्ध करना इष्ट होता है, उसे साध्य कहते हैं।
10. निश्चितसाध्याविनाभावि साधनम्। जो निश्चित रूप से साध्य का अविनाभावी (साध्य के बिना नहीं होने वाला) होता है। उसे साधन कहते हैं।
11. **सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः।** सहभाव और क्रमभाव के नियम को अविनाभाव कहते हैं।
12. **सहचरयोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः।** दो सहचरों और व्याप्यव्यापक का सहभाव होता है।
13. **पूर्वोत्तरचरयोः कारणकार्ययोश्च क्रमभावः।** पूर्वचर और उत्तरचर तथा कारण और कार्य में क्रमभाव होता है।
14. **स्वभावः सहभावः क्रमभावश्च भावाभावाभ्यां विधिप्रतिषेधयोः।** स्वभाव, सहभाव और क्रमभाव अपने भाव (अस्तित्व) या अभाव (नास्तित्व) से विधि तथा प्रतिषेध के हेतु बनते हैं।
15. **तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां तत्प्रयोगः।** हेतु का प्रयोग तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति दोनों से होता है।
16. **असिद्ध–विरुद्ध–अनैकान्तिकास्तदाभासाः।** असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास (दोषपूर्ण हेतु) हैं।
17. **अप्रतीयमानस्वरूपोऽसिद्धः।** जिस हेतु का स्वरूप प्रतीत नहीं होता उसे असिद्ध हेत्वाभास कहा जाता है।
18. **साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्धः।** साध्य से विपरीत पक्ष में व्याप्त हेतु विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है।
19. **अन्यथाऽप्युपपद्यमानोऽनैकान्तिकः।** जो हेतु अन्यथा भी उपपद्यमान होता है—साध्य के अतिरिक्त दूसरे साध्य में भी घटित होता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है।
20. **वचनात्मकेऽनुमाने दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि।** वचनात्मक अनुमान में दृष्टान्त, उपनय और निगमन का भी प्रयोग होता है।
21. **व्याप्तिप्रतीतिप्रदेशो दृष्टान्तः।** व्याप्ति के प्रतीति स्थल को दृष्टान्त कहा जाता है।
22. **अन्वयी व्यतिरेकी च।** दृष्टान्त के दो प्रकार हैं—1. अन्वयीदृष्टान्त, 2. व्यतिरेकी दृष्टान्त।
23. **साध्यव्याप्तसाधननिरूपणमन्वयी।** साध्य में व्याप्त साधन का निरूपण करने वाला दृष्टान्त 'अन्वयी दृष्टान्त' कहलाता है।
24. **साध्याभावे साधनाभावनिरूपणं व्यतिरेकी।** साध्य के अभाव में साधन के अभाव का निरूपण करने वाला दृष्टान्त 'व्यतिरेकी दृष्टान्त' कहलाता है।
25. **साध्यसाधनोभयविकलाः संदिग्धसाध्यसाधनोभया विपरीतान्वयश्च अन्वयि दृष्टान्ताभासाः।** अन्वयीदृष्टान्ताभास के सात प्रकार हैं—1. साध्यविकल, 2. साधनविकल, 3. उभयविकल, 4. संदिग्धसाध्य, 5. संदिगधसाधन, 6. संदिग्धोभय, 7. विपरीतान्वय।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

26. **असिद्धसाध्यसाधनोभयाः संदिग्धसाध्यसाधनोभया विपरीतव्यतिरेकश्च व्यतिरेकि दृष्टान्ताभासः।** व्यतिरेकी दृष्टान्ताभास के सात प्रकार हैं—1. असिद्धसाध्य, 2. असिद्धसाधन, 3. असिद्धोभय, 4. संदिग्धसाध्य, 5. संदिग्धसाधन, 6. संदिग्धोभय, 7. विपरीत व्यतिरेक।
27. **धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः।** धर्मी में साधन का उपसंहार करना उपनय कहलाता है।
28. **साध्यस्य निगमनम्।** साध्य का उपसंहार करना निगमन कहलाता है।
29. **प्रतिषेधश्चतुर्धा प्राक् प्रध्वंस इतरेतरोऽत्यन्तश्च।** प्रतिषेध के चार प्रकार हैं—1. प्राक्, 2. प्रध्वंस, 3. इतरेतर, 4. अत्यन्त।
30. **उत्पत्तेः पूर्वं कारणे कार्यस्याऽसत्त्वं प्राक्।** उत्पत्ति से पूर्व कारण में कार्य असत् होता है, उसका नाम प्राग्भाव है।
31. **लब्धात्मलाभस्य विनाशः प्रध्वंसः।** लब्धात्मलाभ (उत्पन्न कार्य) के विनाश का नाम प्रध्वंसाभाव है।
32. **परस्परापोह इतरेतरः।** परस्पर–एक में दूसरे के अभाव का नाम इतरेतराभाव है।
33. **सर्वदा तादात्म्यनिवृत्तिरत्यन्तः।** तादात्म्य की शाश्वत निवृत्ति (भिन्नता) का नाम अत्यन्ताभाव है।
34. **अन्यथानिर्विकारानन्तसर्वैकात्मकतोपपत्तेः।** अन्यथा निर्विकारता, अनन्तता, सर्वात्मकता और एकात्मकता की आपत्ति आती है।
35. **कार्यनिष्पत्त्यपेक्षं कारणम्।** कार्य की निष्पत्ति में जो अपेक्षित होता है, उसे कारण कहते हैं।
36. **उपादाननिमित्तमेदाद् द्वयम्।** कारण के दो भेद हैं—उपादान और निमित्त।
37. **कारणमेव कार्यतया परिणमद् उपादानम्।** जो कारण ही कार्यरूप में परिणत होता है, उसे उपादान कारण कहते हैं।
38. **साक्षात् साहाय्यकारि निमित्तम्।** साक्षात् सहायता करने वाले कारण को निमित्त कारण कहते हैं।
39. **तद्व्यापारानन्तरं भावि कार्यम्।** उपादान और निमित्त—इन दोनों कारणों की प्रवृत्ति के अनन्तर जो निष्पन्न होता है, उसे कार्य कहते है।
40. **सकर्तृकाऽकर्तृकम्।** कार्य दो प्रकार का होता है—सकर्तृक और अकर्तृक।

चतुर्थ भाग

1. **शब्दाद्यनुसारिणी मतिरेव श्रुतम्।** शब्द आदि के सहारे उत्पन्न होने वाले मतिज्ञान को ही श्रुत कहा जाता है।
2. **तदाप्तवचनाज्जातमागमः।** आप्त वचन से होने वाला श्रुतज्ञान आगम कहलाता है।
3. **यथार्थविद् यथार्थवादी चाप्तः।** वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने और ज्ञान के अनुरूप ही उसका प्रतिपादन करने वाला आप्त कहलाता है।
4. **लौकिकोऽलौकिकश्च।** आप्त के दो प्रकार हैं—लौकिक और लोकोत्तर।
5. **सहजसामर्थ्यसमयाभ्यां शब्दोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुः।** सहजसामर्थ्य और संकेत के द्वारा 'शब्द' अर्थ–प्रतिपत्ति (अर्थबोध) का हेतु बनता है।
6. **अर्थप्रकाशकत्वमस्य स्वाभाविकं प्रदीपवत्, यथार्थत्वमयथार्थत्वंच वक्तृगुणदोषानुसारि।** शब्द में प्रदीप की तरह अर्थ प्रकाशकत्व स्वाभाविक है, पर उसकी (शब्द की) यथार्थता और अयथार्थता वक्ता के गुण और दोष के अनुसार है।
7. **अर्पणानर्पणाभ्यामनेकान्तात्मकार्थप्रतिपादनपद्धतिः स्याद्वादः।** अर्पणा (मुख्य धर्म की अपेक्षा) और अनर्पणा (गौण धर्म की अपेक्षा) के द्वारा अनेकान्तात्मक (अनन्त धर्मात्मक) वस्तु के प्रतिपादन की पद्धति को स्याद्वाद कहा जाता है।
8. **विधिनिषेधविकल्पैः सोऽनेकभंगः।** विधि और निषेध की कल्पना से उस (स्याद्वाद) के अनेक भंग होते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

9. **यथा स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव, स्यादवक्तव्यमेवेति।** स्याद्वाद के मुख्यतः तीन भंग हैं, जैसे—— 1. स्यात्अस्ति एव, 2. स्यात्नास्ति एव, 3. स्यात्अवक्तव्य एव।
10. **प्रमाणं स्वावरणविलययोग्यतया प्रतिनियतार्थप्रकाशि।** प्रमाण अपनी आवरण विलयजनित योग्यता से प्रतिनियत अर्थ का प्रकाशक होता है।
11. **स्वार्थं परार्थञ्च।** प्रमाण स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार का होता है।
12. **यत् परार्थं तन्नयवाक्यापरपर्यायः सद्वाद एव।** जो ज्ञान परार्थ होता है उसे सद्वाद कहते हैं। उसका दूसरा नाम नयवाक्य है।

पंचम भाग

1. **अनिराकृतेतरांशो वस्त्वंशग्राही प्रतिपत्तुरभिप्रायो नयः।** वस्तु के अन्य अंशों का निराकरण न करने वाले तथा उसके एक अंश का ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा जाता है।
2. **द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च।** नय के दो भेद हैं—— द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।
3. **नैगमः संग्रहो व्यवहारश्चेति त्रिधा द्रव्यार्थिकः।** द्रव्यार्थिक नय के तीन प्रकार हैं—— 1. नैगम, 2. संग्रह, 3. व्यवहार।
4. **भेदाभेदग्राही नैगमः।** भेद और अभेद दोनों का ग्रहण करने वाले नय को नैगम नय कहा जाता है।
5. **संकल्पग्राही च।** संकल्पग्राही विचार को भी नैगम नय कहा जाता है।
6. **अभेदग्राही संग्रहः।** अभेदग्राही (सामान्यग्राही) विचार को संग्रह नय कहा जाता है।
7. **परोऽपरश्च।** संग्रह नय के दो भेद हैं—— पर और अपर।
8. **भेदग्राही व्यवहारः।** भेदग्राही (विशेषग्राही) विचार को व्यवहार नय कहा जाता है।
9. **ऋजुसूत्रः शब्दः समभिरूढ एवं भूतश्चेति चतुर्धा पर्यायार्थिकः।** पर्यायार्थिक नय के चार प्रकार हैं—— 1. ऋजुसूत्र, 2. शब्द, 3. समभिरूढ, 4. एवंभूत।
10. **वर्तमानपर्यायग्राही ऋजुसूत्रः।** वर्तमान पर्यायग्राही नय को ऋजुसूत्र कहा जाता है।
11. **कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदकृच्छब्दः।** काल आदि के भेद से ध्वनि में अर्थभेद को स्वीकार करने वाले नय को शब्द नय कहा जाता है।
12. **पर्याये निरुक्तिभेदेनार्थभेदकृत् समभिरूढः।** पर्यायवाची शब्दों में निरुक्त के भेद से अर्थभेद को स्वीकार करने वाले नय को समभिरूढ़ नय कहा जाता है।
13. **क्रियापरिणतमर्थं तच्छब्दवाच्यं स्वीकुर्वन्नेवंभूतः।** क्रियापरिणति के अनुरूप ही शब्द–प्रयोग को स्वीकार करने वाले नय को एवंभूत नय कहा जाता है।
14. **आद्याश्चत्वारोऽर्थप्रधानत्वादर्थनयाः।** आदि के चार नय अर्थ–प्रधान होने के कारण अर्थ नय कहलाते हैं।
15. **शेषाश्च शब्दनयाः।** शेष तीन नय शब्द–प्रधान होने के कारण 'शब्द नय' कहलाते हैं।
16. **पूर्वः पूर्वो बहुविषयः कारणभूतः परः परोऽल्पविषयः कार्यभूतश्च।** क्रमशः पूर्ववर्ती नय बहुविषय वाला और कारणभूत तथा उत्तरवर्ती नय अल्पविषय और कार्यभूत होता है।
17. **अपरथापि नयो द्विधा—— निश्चयो व्यवहारश्च।** प्रकारान्तर से भी नय दो प्रकार का होता है—— 1. निश्चय नय, 2. व्यवहार नय।
18. **तात्त्विकार्थाभ्युपगमपरो निश्चयः।** तात्त्विक अर्थ को स्वीकार करने वाले विचार को निश्चय नय कहा जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

19. **लोकप्रसिद्धार्थानुवादपरोव्यवहारः।** लोकप्रसिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले विचार को व्यवहार नय कहा जाता है।
20. **ज्ञानक्रियाप्रधानौ क्रमाज्ज्ञानक्रियानयावपि।** प्रकारान्तर से नय दो प्रकार का होता है—— 1. ज्ञान नय, क्रिया नय।
21. **पक्षीकृतांशादितरांशापलापी नयाभासः।** वस्तु के स्वीकृत धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का अपलाप करने वाले विचार को नयाभास कहा जाता है।

षष्ठ भाग

1. **प्रमाणस्य विषयः सदसन्नित्यानित्यसामान्यविशेषवाच्यावाच्याद्यनेकान्तात्मकं वस्तु।** सत्–असत् नित्य–अनित्य, सामान्य–विशेष, वाच्य–अवाच्य आदि अनेक धर्मात्मक वस्तु प्रमाण का विषय (प्रमेय) होती है।
2. **उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मकं सत्।** उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक पदार्थ को सत् कहा जाता है।
3. **तदितरदसत्।** जिसमें सत् के लक्षण प्राप्त नहीं हैं, वह असत् है।
4. **सतोऽप्रच्युतिर्नित्यम्।** सत् के अप्रच्युति धर्म को नित्य कहा जाता है।
5. **परिणमनमनित्यम्।** सत् के परिणमन धर्म को अनित्य कहा जाता है।
6. **अभेदप्रतीतेर्निमित्तं सामान्यम्।** अभेद–प्रतीति के निमित्त को सामान्य कहा जाता है।
7. **भेदप्रतीतेर्निमित्तं विशेषः।** भेद–प्रतीति के निमित्त को विशेष कहा जाता है।
8. **गुणपर्यायभेदाद् द्विरूपः।** विशेष के दो भेद हैं—— 1. गुण, 2. पर्याय।
9. **वाग्गोचरं वाच्यम्।** जो वाणी का विषय बने उसे वाच्य कहा जाता है।
10. **वाचामविषयमवाच्यम्।** जो वाणी का विषय न बने, उसे अवाच्य कहा जाता है।
11. **विवक्षाऽविवक्षातः संगतिः।** एक ही वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों की संगति अपेक्षा–भेद से घटित होती है।
12. **प्रमाणस्य फलमर्थबोधः।** अर्थ–बोध को प्रमाण का फल कहा जाता है।
13. **तत् प्रमाणतः स्याद् भिन्नमभिन्न च।** प्रमाण–फल प्रमाण से कथंचित्. भिन्न और कथंचित् अभिन्न है।
14. **साध्यसाधनभावेन तयोर्भेदः।** साध्य और साधन भाव की अपेक्षा से प्रमाण और प्रमाण–फल भिन्न होते हैं।
15. **एकप्रमातृतादात्म्येन चाभेदः।** एक ही प्रमाता में आत्मगत होने के कारण से प्रमाण और प्रमाण–फल अभिन्न होते हैं।
16. **अवग्रहादीनां क्रमिकत्वात् पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम्।** अवग्रह आदि क्रमिक होते हैं इसलिए उनमें पूर्व–पूर्ववर्ती प्रमाण और उत्तर उत्तरवर्ती फल होते हैं।

सप्तम भाग

1. **स्वपरावभासी प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा प्रमाता।** स्वप्रकाशी एवं परप्रकाशी तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से प्रसिद्ध आत्मा को प्रमाता कहा जाता है।
2. **चैतन्यलिंगोपलब्धेस्तद्ग्रहणम्।** आत्मा का बोध चैतन्यलिंग की उपलब्धि से होता है।
3. **न तज्जडलक्षणभूतधर्मः।** वह चैतन्य जड़प्रकृति वाले भूतों (पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और आकाश) का धर्म नहीं है।
4. **उपादाननियमात्।** इसका हेतु है—— उपादान का नियम।
5. **नासदुत्पादः।** असत् का उत्पाद नहीं होता।
6. **नापि मस्तिष्कमूलम्, मस्तिष्कस्य तु तत्प्रयोगहेतुमात्रत्वात्।** चैतन्य का मूल मस्तिष्क नहीं है, वह चेतना के प्रयोग का हेतुमात्र है।
7. **शोणितं प्राणशक्त्यनुगाम्येव।** चैतन्य का मूल रक्त भी नहीं है, क्योंकि वह प्राणशक्ति का अनुगामी है।
8. **प्रेत्यसद्भावाच्च।** आत्मा के अस्तित्व का एक हेतु है—— प्रेत्य का सद्भाव।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

9. **शरीराग्रहरूपचेतसः संभवात् तत्सद्भावः।** पुनर्जन्म का सद्भाव शरीर के प्रति होने वाले चैतसिक आग्रह से सिद्ध होता है।

10. **हर्षभयशोकोपलब्धिरपि पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धा।** हर्ष, भय, शोक आदि की उपलब्धि का निमित्त पूर्वाभ्यास की स्मृति है।

11. **समानजातीयाङ्रोत्पादात्, शस्त्रानुपहतद्रवत्वात्, आहारेण वृद्धिदर्शनात्, अपराप्रेरितत्वे तिर्यगनियमित –गतिमत्त्वात्, छेदादिभिर्ग्लान्यादिदर्शनाच्च क्रमेण पृथिव्यादीनां जीवत्वं संसाधनीयम्।** पृथ्वी आदि की चेतना निम्न युक्तियोंसे सिद्ध होती है—मनुष्यों और तिर्यंचों के शरीर के घावों में सजातीय मांसांकुर पैदा होते हैं, वैसे ही पृथ्वी में—खोदी हुई खानों में सजातीय पृथ्वी के अंकुर पैदा होते हैं, अतः यह प्रतीत होता है कि पृथ्वी सजीव है।

12. **त्रसानां च प्रत्यक्षसिद्धमेव।** त्रस प्राणियों का जीवत्व प्रत्यक्ष सिद्ध ही है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न बैंक

1. जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान के स्वरूप का विश्लेषण करें?
2. मतिज्ञान को परिभाषित करते हुए उसके भेद-प्रभेदों का विवेचन करें?
3. मतिज्ञान को परिभाषित करते हुए श्रुतनिश्रित मतिज्ञान का विवेचन करें?
4. अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के प्रकारों को उदाहरण सहित स्पष्ट करें?
5. श्रुतज्ञान किसे कहते हैं? विस्तार से समझाएँ?
6. मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परिभाषित करते हुए दोनों में पाए जाने वाले भेद और अभेद को स्पष्ट करें?
7. अवधिज्ञान किसे कहते हैं? उसके भेद-प्रभेदों का विवेचन करें?
8. क्षायोपशमिक अवधिज्ञान से क्या तात्पर्य है? उसके प्रकारों की व्याख्या करें?
9. मन:पर्यवज्ञान किसे कहते हैं? उसके भेदों का विवेचन करें?
10. अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान में पायी जाने वाली समानता और असमानता पर प्रकाश डालें?
11. केवलज्ञान के स्वरूप का विश्लेषण करें?
12. केवलज्ञानी की विशेषताएँ बताते हुए उसके प्रकारों का विवेचन करें?
13. जैनदर्शन के अनुसार अज्ञान का विवेचन करें?
14. दर्शन से क्या तात्पर्य है? उसके प्रकारों को समझाएँ?
15. न्याय को परिभाषित करते हुए लक्षण और लक्षणाभास को स्पष्ट करें?
16. न्याय के चार अंगों का विवेचन करें?
17. जैन दर्शन के अनुसार प्रमेय के स्वरूप का विश्लेषण करें?
18. प्रमिति का विवेचन करते हुए प्रमाण और प्रमिति के भेदाभेद को समझाएँ?
19. प्रमाता के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसकी सिद्धि के लिए दिये गये हेतुओं की व्याख्या करें?
20. अभाव किसे कहते हैं? उसके प्रकारों का विवेचन करें?
21. वस्तु को एकान्त भावरूप या अभावरूप मानने पर आने वाली आपत्तियों को स्पष्ट करें?
22. जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण के क्रमिक विकास का विवेचन करें?
23. प्रमाण को परिभाषित करते हुए यह स्पष्ट करें कि प्रमाण के प्रामाण्य का निश्चय कैसे होता है?
24. प्रमाण और प्रमाणाभास को समझाएँ?
25. पारमार्थिक प्रत्यक्ष का विस्तृत विवेचन करें?
26. जैन दर्शन के अनुसार सर्वज्ञ की सिद्धि करें?
27. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का विवेचन करते हुए स्पष्ट करें कि यह समन्वय का फलित है?
28. जैन दर्शन के अनुसार इन्द्रिय का विवेचन करें?
29. जैन दर्शन के अनुसार मन का विवेचन करें?
30. परोक्ष प्रमाण किसे कहते हैं? उसके प्रकारों का विवेचन करें?
31. स्मृति किसे कहते हैं? जैन दर्शन के अनुसार वह प्रमाण है या नहीं, स्पष्ट करें?
32. अनुमान प्रमाण पर एक निबन्ध लिखें?
33. प्रत्यभिज्ञा को परिभाषित करते हुए सिद्ध करें कि वह परोक्ष प्रमाण का एक भेद है?
34. हेतु और हेत्वाभास पर प्रकाश डालें?
35. दृष्टान्त और दृष्टान्ताभास का विवेचन करें?
36. जैन दर्शन के अनुसार आगम किसे कहते हैं? उसके प्रकारों का विवेचन करें?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सन्दर्भ ग्रंथ

1. भिक्षुन्यायकर्णिका, आचार्य तुलसी, आदर्श साहित्य संघ, चूरू

2. प्रमाण मीमांसा, आचार्य हेमचन्द्र

3. नंदीसूत्र–सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूँ

4. जैन सिद्धान्त दीपिका, आचार्य तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूँ

5. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, आचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ, चूरू

6. जैन न्याय का विकास, आचार्य महाप्रज्ञ, जयपुर

7. जैन न्याय, पंडित कैलाशचन्द्र

8. ज्ञानमीमांसा, डॉ. साध्वी श्रुतयशा, जैन विश्वभारती, लाडनूँ

9. जैन तत्त्व विद्या, आचार्य तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूँ

10. आर्हती दृष्टि, डॉ. समणी मंगलप्रज्ञा, जैन विश्वभारती, लाडनूँ

11. आप्तमीमांसा, आचार्य समन्तभद्र

12. ज्ञान प्रकाश, मुनि धनराजजी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ–341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

स्नातक (बी.ए.) तृतीय वर्ष

विषय–जैन विद्या

प्रथम पत्र–ज्ञानमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा

संवर्ग

संवर्ग –1	:	परोक्षज्ञान
संवर्ग –2	:	प्रत्यक्षज्ञान
संवर्ग –3	:	न्याय के अंग
संवर्ग –4	:	प्रत्यक्ष प्रमाण
संवर्ग –5	:	परोक्ष प्रमाण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विशेषज्ञ समिति

1. **प्रो. दयानन्द भार्गव**
   पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
   जोधपुर (राजस्थान)

2. **प्रो. अरूण मुखर्जी**
   पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन
   जादवपुर विश्वविद्यालय
   कोलकाता

3. **प्रो. कुसुम जैन**
   विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय
   जयपुर (राजस्थान)

4. **डॉ. विमला मण्डारी**
   पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
   जोधपुर (राजस्थान)

5. **प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी**
   निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
   जैन विश्वभारती संस्थान
   लाडनूँ (राजस्थान)

6. **प्रो. समणी चैतन्यप्रज्ञा**
   आचार्या, जैन विद्या विभाग,
   जैन विश्वभारती संस्थान
   लाडनूँ (राजस्थान)

7. **प्रो. ऋजुप्रज्ञा**
   आचार्या, जैन विश्वभारती संस्थान
   लाडनूँ (राजस्थान)

8. **डॉ. शुभ प्रज्ञा**
   सहा. आचार्य, जैन विश्वभारती संस्थान
   लाडनूँ (राजस्थान)

लेखक

प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

संपादक

डॉ. समणी शुभप्रभा

कापीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

नवीन संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 1400

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ – 341 306 (राजस्थान)

Printed at

M/s Nalanda Offsets, Jaipur

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रस्तावना

दर्शन का लक्ष्य है सत्य की खोज करना। सत्य ज्ञेय (जानने योग्य) है, उसको जानने का साधन ज्ञान है; ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो उसके मुख्यत: तीन कोण बनते हैं—जानना क्या? जानना क्यों? जानना कैसे? इन्हीं प्रश्नों के आधार पर दर्शनशास्त्र के तीन स्तम्भ खड़े हुए हैं—तत्त्वमीमांसा, मूल्यमीमांसा और ज्ञानमीमांसा।

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। आत्मा में अनन्त ज्ञान है। संसारी अवस्था में वह ज्ञान कर्मों से आवरणित रहता है। जैसे-जैसे ज्ञान को आवृत्त करने वाले ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय या क्षयोपशम होता है, वैसे-वैसे ज्ञान अनावृत्त होता जाता है। आवरण का पूर्ण नाश होने पर अनन्तज्ञान-केवलज्ञान प्रकट होता है।

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान के साधन तीन हैं—इन्द्रिय, मन और आत्मा। इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। आत्मा से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन से होते हैं अत: वे परोक्ष ज्ञान हैं। अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान आत्मा के द्वारा होते हैं अत: इन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है।

जैन विद्या के इस द्वितीय पत्र **'ज्ञानमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा'** में ज्ञान और प्रमाण की विस्तृत जानकारी दी गई है। जैन दर्शन में ज्ञानमीमांसा का अतिसूक्ष्म विवेचन उपलब्ध होता है। प्रमाणमीमांसा का विकास ज्ञान की पुष्ट परम्परा के बाद में हुआ। अत: जैन दर्शन की प्रमाणमीमांसा, ज्ञानमीमांसा पर ही आधारित है। सभी धर्मशास्त्रों में ज्ञान को बहुत महत्त्व दिया गया है। गीता में **'नहि ज्ञानेन सदृशं, पवित्रमिह विद्यते'** कहकर ज्ञान को सबसे अधिक पवित्र माना है। उपनिषद में **'ऋते ज्ञानात् न मुक्ति:'** कहकर ज्ञान को मुक्ति का कारण माना गया है। जैन आगम (दसवैकालिक) में **'पढमं नाणं तओ दया'** कहकर पहले ज्ञान फिर आचरण की बात कही गई है।

ज्ञान का व्यवस्थित एवं विस्तृत विवेचन नंदीसूत्र में मिलता है। वहां ज्ञान के पांच प्रकार बताये गये हैं और पांच ज्ञानों को ही प्रत्यक्ष एवं परोक्ष इन दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रमाण शब्द का उल्लेख वहां नहीं है। वाचक उमास्वाति ने सर्वप्रथम ज्ञान का प्रमाणीकरण किया। उसके बाद आचार्य सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलंक, हेमचंद्र, विद्यानन्द, यशोविजयजी आदि ने उस परम्परा को आगे बढ़ाया और न्याय के अनेक ग्रंथों का निर्माण किया। बीसवीं सदी में एक महान् आचर्य हुए—आचार्य तुलसी। जिन्होंने 'जैन न्याय' को बहुत ही सरल भाषा में समझाते हुए एक ग्रंथ लिखा—भिक्षु न्याय कर्णिका। 'न्याय' के विषय में प्रवेश करने वाले विद्यार्थियों के लिए इस ग्रंथ का पठन करना अत्युपयोगी हो सकता है। इसी ग्रंथ को आधार बनाकर इस पत्राचार में 'जैन न्याय' को समझाने का प्रयास किया गया है। इसके साथ-साथ पाठ-लेखन में नंदीसूत्र, प्रमाणमीमांसा, भिक्षु न्याय कर्णिका, जैन दर्शन मनन और मीमांसा, जैन न्याय का विकास, जैन न्याय, ज्ञानमीमांसा, भारतीय न्यायशास्त्र, ज्ञान प्रकाश, आर्हती दृष्टि आदि ग्रंथों का भी उपयोग किया गया है।

विश्वास है जैन ज्ञानमीमांसा और प्रमाणमीमांसा का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के लिए यह कार्य उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुक्रम

		पृष्ठ संख्या
इकाई–1	**परोक्ष ज्ञान**	1–20
	* ज्ञान का स्वरूप	
	* मतिज्ञान	
	* श्रुतज्ञान	
इकाई–2	**प्रत्यक्ष ज्ञान**	21–38
	* अवधिज्ञान	
	* मन:पर्यवज्ञान	
	* केवलज्ञान	
इकाई–3	**न्याय के अंग**	39–58
	* न्याय का स्वरूप	
	* लक्षण-लक्षणाभास	
	* न्याय के अंग	
	* प्रमेय का स्वरूप	
	* प्रमिति का स्वरूप	
	* प्रमाता का स्वरूप	
	* अभाव का स्वरूप	
इकाई–4	**प्रत्यक्ष प्रमाण**	59–76
	* प्रमाण का स्वरूप	
	* प्रामाण्य का निश्चय	
	* प्रत्यक्ष प्रमाण	
	* इन्द्रिय	
	* मन	
इकाई–5	**परोक्ष प्रमाण**	77–93
	* स्मृति	
	* प्रत्यभिज्ञा	
	* तर्क	
	* अनुमान	
	* आगम	
स्मरणीय बिन्दु		94–97
भिक्षु न्याय कर्णिका के सूत्र		97–103
प्रश्न बैंक		104
सन्दर्भ ग्रन्थ		105

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun